जीवन की प्रतिस्पर्द्धा

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की मैथिली कथा-संग्रह ‘प्रतिस्पर्द्धा’ का हिंदी भावानुवाद)

प्रतिस्पर्द्धा

मैथिली कथा संग्रह

जगदीश प्रसाद मण्डल

जीवन की प्रतिस्पर्द्धा

हिंदी अनुवाद

मुन्नी कामत

जीवन की प्रतिस्पर्द्धा

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

मुन्नी कामत

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

JEEVAN KI PRATISPARDHA

Hindi Translation of the Maithili Short-Story Collection Pratisparddha
Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal
Hindi Translation: Smt. Munni Kamat

Jeevan Ki Pratispardha is the Hindi translation of Shri Jagdish Prasad Mandal's Maithili short-story collection Pratisparddha, translated by Smt. Munni Kamat, a distinguished Maithili children's writer and recipient of the Sahitya Akademi Bal Sahitya Puraskar. Rooted in the rural life of Mithila, the ten stories in this collection explore themes of trust, social disorder, self-belief, courtesy, duty, agriculture, wealth, religion, moral conduct and human responsibility.

Shri Jagdish Prasad Mandal is regarded as one of the most distinctive voices in modern Maithili literature. His writing emerges from deep engagement with village life, agrarian society, family relationships, labour, social change and the moral struggles of ordinary people. Through ordinary rural experiences, he develops profound reflections on character, action, conscience and human values.

These stories suggest that the true competition of life is not merely external rivalry, but the inner conflict between truth and falsehood, duty and neglect, wisdom and confusion, wealth and the value of life, fear and self-belief. Marked by literary simplicity and moral depth, Jeevan Ki Pratispardha introduces Mandalji's humane vision to Hindi readers with emotional warmth, cultural rootedness and narrative clarity.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: A/F
Price: 399/-
Copyright: © Publisher, 2026
Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

उन जीवनों को समर्पित,
जिन्हें आदरणीय दादाजी- श्री जगदीश प्रसाद मण्डल
अपने साहित्य में
स्मृति, कर्तव्य, विश्वास और मनुष्यता के रूप में
निरन्तर जीवित रखते हैं।

उन साधारण जनों को,
जिनके श्रम, सम्बन्ध, संघर्ष और सेवा में
जीवन मृत्यु से आगे बढ़कर
साझे मानवीय मूल्य का रूप लेता है।

- मुन्नी

कथा-क्रम

1. अटूट विश्वास
2. गजपट लोग
3. भूत
4. आत्मविश्वास
5. शिष्टाचार
6. जीवन की प्रतिस्पर्द्धा
7. इष्ट-अनिष्ट
8. स्वभाव और प्रभाव
9. धर्म का मर्म कर्म
10. कोई धन से ठगा जाता है तो कोई धन को ठगता है

भूमिका

☰

श्री जगदीश प्रसाद मण्डलजी की कहानियाँ पढ़ते हुए बार-बार यह अनुभव होता है कि वे कथा को केवल घटना कहने की विधा नहीं मानते। उनके लिए कथा जीवन को देखने, परखने और समझने का माध्यम है। वे मनुष्य को उसके दैनिक व्यवहार में, उसके श्रम में, उसके संबंधों में, उसकी भूलों में, उसकी आकांक्षाओं में और उसके नैतिक संघर्षों में पहचानते हैं। उनकी कहानियों में जीवन किसी ऊँचे मंच पर खड़ा होकर भाषण नहीं देता, बल्कि खेत की मेड़ पर, घर के आँगन में, हाट के रास्ते में, विद्यालय के बरामदे में, चौपाल की बातचीत में और परिवार की छोटी-छोटी उलझनों के भीतर बोलता है। यही कारण है कि मण्डलजी की कथा-दृष्टि साधारण स्थितियों से असाधारण अर्थ निकालती है। वे बड़े प्रश्नों को बड़े शोर से नहीं, बल्कि लोकजीवन की सहज चाल से सामने लाते हैं।

'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली कथा-संग्रह 'प्रतिस्पर्द्धा' का हिंदी भावानुवाद है। इस संग्रह की कहानियाँ मिथिला के ग्राम्य जीवन से जन्म लेती हैं, पर उनका अर्थ केवल मिथिला तक सीमित नहीं रहता। यहाँ गाँव है, खेत है, वर्षा है, सूखा है, श्रम है, परिवार है, बीमारी है, धर्म है, शिक्षा है, प्रवास है, धन है, आचार है, आत्मविश्वास है और मनुष्य के भीतर चलता हुआ सतत विचार है। मण्डलजी इन सबको अलग-अलग विषयों की तरह नहीं देखते; वे इन्हें

जीवन के परस्पर जुड़े हुए आयाम मानते हैं। उनके यहाँ खेत केवल खेती का स्थान नहीं, श्रम और भविष्य की चिंता का क्षेत्र है। घर केवल रहने की जगह नहीं, संबंधों की परीक्षा है। धर्म केवल पूजा का नाम नहीं, कर्म और मानवीय जिम्मेदारी की पहचान है। धन केवल साधन नहीं, मनुष्य की समझ और असमझ की कसौटी है। शिक्षा केवल डिग्री नहीं, विवेक की जागृति है।

इस संग्रह का शीर्षक अत्यंत अर्थपूर्ण है। 'प्रतिस्पर्द्धा' शब्द सुनते ही सामान्यतः परीक्षा, नौकरी, धन, प्रतिष्ठा, पद, सफलता और बाहरी जीत की स्मृति आती है। आज का समय सचमुच प्रतिस्पर्द्धा से भरा हुआ है। हर व्यक्ति दूसरे से आगे निकलना चाहता है, हर परिवार दूसरे परिवार से अपनी तुलना करता है, समाज अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की दौड़ में उलझता है। शिक्षा से लेकर व्यापार तक, गाँव से लेकर शहर तक, संबंध से लेकर विचार तक, हर जगह किसी न किसी रूप में स्पर्धा चल रही है। पर मण्डलजी इस बाहरी स्पर्धा से आगे जाकर जीवन की भीतरी प्रतिस्पर्द्धा को पहचानते हैं। उनके लिए असली संघर्ष मनुष्य के भीतर है। सत्य और असत्य के बीच, कर्म और अकर्मण्यता के बीच, विश्वास और संदेह के बीच, विवेक और भ्रम के बीच, धन और जीवन-मूल्य के बीच, धर्म और पाखंड के बीच, आत्मविश्वास और भय के बीच, मनुष्यता और स्वार्थ के बीच जो संघर्ष चलता है, वही जीवन की वास्तविक प्रतिस्पर्द्धा है।

इस दृष्टि से 'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' केवल दस कहानियों का संग्रह नहीं, बल्कि जीवन के दस नैतिक द्वारों का उद्घाटन है। प्रत्येक कथा किसी साधारण घटना से आरंभ होती है, पर धीरे-धीरे वह मनुष्य के चरित्र और समाज की दिशा पर विचार करने लगती है। मण्डलजी की विशेषता यही है कि वे कथा को उपदेश में नहीं बदलते, फिर भी कथा पढ़ने के बाद पाठक के भीतर एक नैतिक प्रश्न अवश्य जागता है। वे

विचार देते हैं, पर विचार को पात्रों की जीवनस्थिति से जोड़कर देते हैं। वे समाज की आलोचना करते हैं, पर निराशा का अंधकार नहीं रचते। वे मनुष्य की कमजोरियों को देखते हैं, पर मनुष्य में सुधार और जागरण की संभावना पर विश्वास बनाए रखते हैं।

मण्डलजी के साहित्य की जड़ मिथिला के लोकजीवन में है। उनके पात्र किसी कृत्रिम साहित्यिक संसार से नहीं आते। वे गाँवों में रहने वाले साधारण लोग हैं- किसान, गृहस्थ, शिक्षक, विद्यार्थी, वृद्ध, स्त्रियाँ, श्रमिक, प्रवासी, साधु और परिवार की जिम्मेदारी उठाने वाले सामान्य मनुष्य। पर इन साधारण पात्रों के भीतर लेखक असाधारण मानवीय अर्थ खोजते हैं। उनके पात्र न पूर्णतः आदर्श हैं, न पूर्णतः खल। वे जीवन की स्थितियों में उलझे हुए मनुष्य हैं। इसी कारण वे विश्वसनीय लगते हैं। वे बोलते हैं तो लोक की भाषा बोलते हैं। सोचते हैं तो जीवन के अनुभव से सोचते हैं। गलती करते हैं तो उस गलती में भी समाज की कोई गहरी समस्या दिखाई देती है। सुधरते हैं तो वह सुधार बाहर से थोपा हुआ नहीं, भीतर से अर्जित लगता है।

मण्डलजी का गाँव केवल स्मृति का गाँव नहीं है। वह संघर्षशील गाँव है, बदलता हुआ गाँव है, टूटता और बनता हुआ गाँव है। वहाँ परंपरा है, पर अंधपरंपरा भी है। वहाँ विश्वास है, पर संदेह की आँधी भी है। वहाँ धर्म है, पर धर्म के नाम पर छल भी है। वहाँ शिक्षा है, पर शिक्षित मनुष्य की दिशाहीनता भी है। वहाँ श्रम है, पर श्रम से दूर भागता हुआ मन भी है। वहाँ परिवार है, पर संबंधों की मर्यादा टूटने का भय भी है। लेखक इन सबको देखकर भी गाँव से विमुख नहीं होते। वे गाँव की आत्मा को पहचानते हैं और उसके रोगों को भी। यही संतुलन उनके कथा-साहित्य को महत्त्वपूर्ण बनाता है।

इस संग्रह में सबसे पहले विश्वास का प्रश्न आता है। 'अटूट विश्वास' मण्डलजी की मानवीय दृष्टि का सशक्त उद्घाटन करती है। यहाँ विश्वास

कोई नारा नहीं, कोई उपदेश नहीं, बल्कि पीढ़ियों से अर्जित व्यवहार है। दो परिवारों के बीच बनी आत्मीयता बताती है कि मनुष्यता जाति, धर्म और बाहरी पहचान से बड़ी चीज है। पर लेखक यह भी दिखाते हैं कि समाज में जब भय, संदेह और उन्माद फैलता है, तब सबसे मजबूत संबंध भी परीक्षा में पड़ जाते हैं। इस कथा का सौंदर्य यही है कि यह मनुष्य के बीच बनी उस आंतरिक डोरी को पहचानती है, जिसे समय की आँधी हिला सकती है, पर यदि वह सच्चे जीवन-व्यवहार से बनी हो, तो टूटती नहीं।

इसी क्रम में 'गजपट लोग' ग्राम-समाज के भीतर फैलती नैतिक अव्यवस्था को सामने लाती है। इस कथा में लेखक दिखाते हैं कि समाज का पतन अचानक नहीं होता। वह धीरे-धीरे मनुष्य के व्यवहार, धर्म की समझ, राजनीति के उपयोग, संबंधों के आचरण और लोक-विचार की कमजोरी में प्रवेश करता है। जब धर्म साधना के स्थान पर प्रदर्शन बन जाता है, जब राजनीति लोकहित के स्थान पर अवसर का माध्यम बन जाती है, जब मनुष्य विचार से अधिक अफवाह पर चलने लगता है, तब समाज बाहर से शांत दिखाई देते हुए भी भीतर से खोखला होने लगता है। मण्डलजी ऐसे संकट को पहचानते हैं, पर समाधान पलायन में नहीं देखते। उनके लिए विवेक, धैर्य और आत्मनिरीक्षण ही पहला उपचार है।

'भूत' जैसी संक्षिप्त कथा मण्डलजी की प्रतीकात्मक शक्ति का परिचय देती है। यहाँ भूत किसी बाहरी डर का संकेत नहीं, बल्कि निष्क्रिय मन की बेचैनी का प्रतीक है। मनुष्य जब अपने समय, कर्म और लक्ष्य से कट जाता है, तब उसके भीतर का खालीपन उपद्रव करने लगता है। लेखक बहुत सरल प्रसंग से यह बड़ी बात कह देते हैं कि जीवन की शांति कर्म से आती है, अकर्मण्यता से नहीं। यह कथा इस संग्रह की विचारभूमि को और स्पष्ट करती है, क्योंकि 'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' में कर्म का प्रश्न बार-बार लौटता है। मनुष्य का मूल्य उसके दावे से नहीं,

उसके कर्म से पहचाना जाता है।

‘आत्मविश्वास’ इस संग्रह की ऐसी कथा है, जो मनुष्य के भीतर छिपी निर्णय-शक्ति और भयमुक्त जीवन की आवश्यकता को सामने लाती है। मण्डलजी के यहाँ आत्मविश्वास कोई ऊपरी उत्साह नहीं है। वह न तो अपने ऊपर भरोसा करने की सामान्य बात भर है, न अहंकारपूर्ण आत्मघोषणा। यह जीवन को समझकर, अपने कर्म की दिशा पहचानकर और भीतर की शंका, भय तथा अनुकरण-प्रवृत्ति से मुक्त होकर विकसित होने वाली शक्ति है। कथा का नायक जब अपने जीवन को देखता है, तो उसे समझ में आता है कि केवल समाज की देखा-देखी से जीवन नहीं बनता। मनुष्य को अपने भीतर विचार जगाना पड़ता है, अपनी प्राथमिकता समझनी पड़ती है और उस कर्म को अपनाना पड़ता है, जिसके लिए वह उत्तरदायी है। इसी बिंदु पर यह कथा व्यक्तिगत आत्मबल से आगे बढ़कर सामाजिक चेतना की कथा बन जाती है। आत्मविश्वास यहाँ मनुष्य को अकेला नहीं करता, बल्कि उसे अपने श्रम, अपने विवेक और दूसरों के प्रति सेवा-भाव से जोड़ता है।

मण्डलजी बार-बार यह संकेत करते हैं कि मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता बाहरी अभाव नहीं, भीतर की अस्थिरता है। जिसके पास निर्णय का बल नहीं, वह दूसरों की चाल में चलने लगता है। जिसके पास विचार का अनुशासन नहीं, वह भय और भ्रम में उलझ जाता है। ‘आत्मविश्वास’ ऐसे ही मनुष्य को भीतर से जगाने वाली कथा है। इसमें हाट की यात्रा केवल बाजार जाने की यात्रा नहीं रह जाती, वह जीवन की दिशा खोजने की यात्रा बन जाती है। रास्ते की बातचीत धीरे-धीरे यह स्पष्ट करती है कि सही जीवन वही है, जिसमें मनुष्य काम से भागता नहीं, अपनी शक्ति को पहचानता है और भय को विवेक से बदलना सीखता है। इसीलिए यह कथा संग्रह की केंद्रीय विचारधारा से गहरे रूप में जुड़ती है। जीवन की प्रतिस्पर्द्धा में वही टिक सकता है, जो बाहर की दौड़ में खोने से पहले

अपने भीतर की शक्ति को जगा ले।

'शिष्टाचार' बदलते समय, प्रवासी जीवन और संबंधों की मर्यादा की कथा है। इस कथा में मिथिला केवल गाँव तक सीमित नहीं रहती; वह अपने लोगों के साथ शहरों और महानगरों तक जाती है। भाषा, साहित्य, सांस्कृतिक आयोजन और प्रवासी मैथिल समाज की सक्रियता के बीच लेखक अत्यंत सूक्ष्म प्रश्न उठाते हैं: क्या आर्थिक उन्नति से मनुष्य सचमुच संस्कारी हो जाता है? क्या शहर में मकान बना लेने, धन कमा लेने और बाहरी रूप से सफल दिखने से संबंधों की समझ अपने आप आ जाती है? कथा का उत्तर स्पष्ट है। शिष्टाचार केवल बोलचाल की विनम्रता नहीं है। यह उम्र, अवसर, संबंध, आमंत्रण, आतिथ्य और सामाजिक मर्यादा को समझने की क्षमता है।

रामसेवक भाई जैसे वरिष्ठ व्यक्ति के माध्यम से कथा दिखाती है कि अनुभव और संस्कार का अपना सम्मान होता है। वे साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम में जाते हैं, भाषा और समाज के प्रति अपनी निष्ठा के कारण वहाँ उपस्थित होते हैं। पर लौटने पर जब शिकायत सुनते हैं कि वे किसी परिचित से मिलने क्यों नहीं गए, तब कथा संबंधों की उलझी हुई समझ को खोलती है। यहाँ प्रश्न मिलने या न मिलने का नहीं, शिष्टाचार के मूल भाव का है। किस अवसर पर किसे किससे मिलने जाना चाहिए, कौन अतिथि है, कौन स्थानीय है, किसे पहल करनी चाहिए, यह सब केवल औपचारिक नियम नहीं, बल्कि समाज की परिपक्वता के संकेत हैं। मण्डलजी इस कथा में आधुनिकता के साथ बढ़ती असंवेदनशीलता को पहचानते हैं। वे बताते हैं कि धन और सुविधा मनुष्य को बड़ा बना सकते हैं, पर गरिमा, विनम्रता और संबंध-बोध के बिना वह बड़प्पन अधूरा है।

संग्रह की केंद्रीय कथा 'प्रतिस्पर्द्धा' हिंदी शीर्षक 'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' के व्यापक अर्थ को सबसे स्पष्ट रूप में सामने लाती है। यह

कथा केवल एक युवक की असफलता या परीक्षा की तैयारी की कथा नहीं है। इसके भीतर आज के शिक्षित ग्रामीण युवक की चिंता, नौकरी की आकांक्षा, खेती से बदलता संबंध, भविष्य की अनिश्चितता और आत्मपहचान का संकट एक साथ उपस्थित हैं। रामकिशोर जैसे पात्र के भीतर जो बेचैनी है, वह केवल उसकी निजी बेचैनी नहीं, पूरे समय की बेचैनी है। शिक्षा ने उसके भीतर आशा जगाई है, पर असफलता ने उसे आत्मसंदेह से भर दिया है। परिवार के पास जमीन है, पर वह खेती को जीवन का स्थिर आधार नहीं मान पाता। नौकरी की राह संकरी है, प्रतियोगिता कठोर है, और मन अनेक दिशाओं में टूटता चला जाता है।

यहीं मण्डलजी कथा को सामान्य प्रतियोगिता से ऊपर उठा देते हैं। गौरीनाथ मास्टर साहब जैसे संतुलित व्यक्ति के माध्यम से कथा स्पष्ट करती है कि प्रतिस्पर्द्धा में हार-जीत का प्रश्न जितना बाहर है, उससे बड़ा प्रश्न भीतर है। मनुष्य जब तक स्वयं को नहीं पहचानता, तब तक वह दूसरों से तुलना करते-करते अपने जीवन का केंद्र खो देता है। चिंता और चिंतन का अंतर इस कथा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उद्देश्यहीन विचार चिंता बनकर मनुष्य को क्षीण करता है, जबकि जीवन-लक्ष्य से जुड़ा हुआ विचार चिंतन बनकर दिशा देता है। यही इस कथा की गहरी सीख है। असफलता अंत नहीं होती। यदि मनुष्य उस असफलता को आत्मबोध में बदल सके, तो वही जीवन की नयी शुरुआत बन सकती है। इस अर्थ में 'प्रतिस्पर्द्धा' संग्रह का केवल शीर्षक-आधार नहीं, उसका दार्शनिक केंद्र भी है।

'इष्ट-अनिष्ट' समाज में सक्रिय दो विपरीत प्रवृत्तियों की कथा है। मण्डलजी यहाँ बहुत स्पष्ट ढंग से बताते हैं कि समाज केवल बाहरी व्यवस्था से नहीं बनता। समाज मनुष्यों के स्वभाव, कर्म, व्यवहार और दृष्टि से बनता है। दो व्यक्ति एक ही पृष्ठभूमि से आ सकते हैं, एक जैसी शिक्षा पा सकते हैं, एक ही ग्रामीण परिवेश में रह सकते हैं, फिर भी

उनकी जीवन-दिशा अलग हो सकती है। हरिहर और मुरलीधर जैसे पात्रों के माध्यम से कथा यही अंतर दिखाती है। एक व्यक्ति संबंधों में कटुता, अविश्वास और विघटन फैलाता है; दूसरा श्रम, व्यवस्था और उपयोगी कर्म से परिवार और समाज को आगे बढ़ाता है।

इस कथा में कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। पारंपरिक खेती, नगदी फसल, फल-फूल, बाजार और ग्रामीण सुविधा का प्रसंग केवल आर्थिक परिवर्तन का संकेत नहीं, बल्कि यह बताता है कि सही दिशा में प्रयुक्त विवेक समाज का हित कर सकता है। शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ लेना नहीं है। यदि पढ़ा-लिखा मनुष्य समाज को बाँटता है, तो उसकी शिक्षा अनिष्टकारी हो जाती है। यदि वही मनुष्य श्रम, योजना और सामाजिक उपयोगिता से जुड़ता है, तो वह इष्टकारी शक्ति बन जाता है। 'इष्ट-अनिष्ट' इसी कारण ग्रामीण समाज के भीतर छिपी नैतिक अर्थव्यवस्था की कथा है। यह पूछती है कि मनुष्य अपनी ऊर्जा किस दिशा में लगाता है, जोड़ने में या तोड़ने में।

'स्वभाव और प्रभाव' इस संग्रह में शिक्षा, आत्मचिंतन और व्यक्तित्व-निर्माण की अत्यंत विचारशील कथा है। इसका केंद्र विद्यार्थी जीवन है, पर अर्थ केवल विद्यार्थी तक सीमित नहीं। रवीन्द्र की जिज्ञासा से आरंभ होकर कथा यह प्रश्न उठाती है कि मनुष्य बनता कैसे है। क्या वह केवल अपने जन्मजात स्वभाव से बनता है, या समाज, संगति, सुनने, देखने और ग्रहण करने से भी बदलता है? सोनभद्र बाबू की व्याख्या कथा को जीवन-दर्शन का रूप देती है। वे बताते हैं कि हर मनुष्य का अपना स्वभाव उसकी निजी पूँजी है, पर वह संसार के प्रभावों से निरंतर बदलता भी रहता है। अच्छा प्रभाव जीवन को सँवार सकता है और बुरा प्रभाव उसे भटका सकता है।

यह कथा आज के समय में विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि मनुष्य चारों ओर से प्रभावों से घिरा हुआ है। परिवार, समाज, शिक्षा, बाजार,

राजनीति, भोगवाद, दिखावा और आधुनिक संचार-माध्यम सब अपने-अपने ढंग से मनुष्य को प्रभावित करते हैं। ऐसे समय में केवल प्रभाव ग्रहण करते चले जाना पर्याप्त नहीं। मनुष्य को अपने स्वभाव का परिमार्जन करना होता है। उसे एकांत में स्वयं को देखना होता है, अपने भीतर के दोषों को पहचानना होता है और अपने जीवन को संयमित बनाना होता है। 'स्वभाव और प्रभाव' इसी आंतरिक साधना की कथा है। यह शिक्षा को केवल सूचना या परीक्षा की तैयारी नहीं मानती, बल्कि मनुष्य के चरित्र और विवेक के निर्माण से जोड़ती है।

इन पाँचों कथाओं को साथ रखकर देखने पर स्पष्ट होता है कि मण्डलजी की दृष्टि जीवन को बाहर से नहीं, भीतर से समझती है। 'आत्मविश्वास' में मनुष्य अपने भय से जूझता है। 'शिष्टाचार' में वह संबंधों की मर्यादा सीखता है। 'प्रतिस्पर्द्धा' में वह असफलता और आत्मपहचान के संकट से गुजरता है। 'इष्ट-अनिष्ट' में वह समाज के लिए हितकारी या अहितकारी बनने की दिशा चुनता है। 'स्वभाव और प्रभाव' में वह अपने भीतर के निर्माण की जिम्मेदारी स्वीकार करता है। इस प्रकार संग्रह का मध्य भाग मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक स्तरों पर परखता है। यहाँ कथा केवल कथा नहीं रहती, वह जीवन के भीतर चल रही साधना का रूप ले लेती है।

'धर्म का मर्म कर्म' इस संग्रह की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी है। इसमें मण्डलजी धर्म को बाहरी चिह्नों, नामों, वेशों और कर्मकांडों से मुक्त कर मनुष्य के जीवन-व्यवहार में खोजते हैं। कथा का केंद्र ज्ञानचन बाबा हैं, पर उनका महत्त्व इस बात में नहीं है कि लोग उन्हें किस नाम से पुकारते हैं। कोई उन्हें आत्माराम बाबा कहता है, कोई विवेक बाबा, कोई संन्यासी बाबा, कोई भगवान बाबा। इन नामों के पीछे लोक-विश्वास है, पर कथा का वास्तविक बल उनके कर्ममय जीवन में है। मण्डलजी यहाँ धर्म को प्रवचन की वस्तु नहीं, अनुभव और आचरण की वस्तु बनाते हैं।

धर्म तब सार्थक है, जब वह मनुष्य को भय से मुक्त करे, श्रम से जोड़े, सेवा की ओर ले जाए और जीवन को व्यापक मानवता से भर दे।

ज्ञानचन की जीवन-यात्रा इस कथा में साधारण बालक से लोकमान्य मनुष्य बनने की यात्रा है। बचपन में मेले में खो जाना, असहाय स्थिति में भिखाड़ी बाबा से मिलना, श्रम, अनुशासन, खेती, पशुपालन और सामूहिक जीवन से जुड़ा आश्रय पाना, जाति-पाँति और ऊँच-नीच से ऊपर उठे हुए वातावरण में मनुष्यत्व का संस्कार ग्रहण करना, ये सब प्रसंग कथा को गहरे मानवीय धरातल पर ले जाते हैं। ज्ञानचन केवल धार्मिक शब्द नहीं सीखते, वे धर्म को जीवन में जीना सीखते हैं। यही कारण है कि जब वे अपने गाँव लौटते हैं, तो उनका व्यक्तित्व किसी बाहरी चमत्कार से नहीं, बल्कि आत्मबल, करुणा, सेवा और कर्म से पहचाना जाता है।

इस कथा का मूल बोध यही है कि धर्म का सच्चा मर्म कर्म में है। मनुष्य कर्मयोनि का प्राणी है, अतः उसका धर्म उसके आचरण से पहचाना जाएगा। यदि धर्म मनुष्य को मनुष्य से दूर करे, तो वह धर्म नहीं, संकीर्णता है। यदि धर्म सेवा, प्रेम, श्रम, विवेक और करुणा में प्रकट हो, तभी वह जीवन का मार्ग बनता है। मण्डलजी इसी दृष्टि से धर्म को लोकजीवन के भीतर स्थापित करते हैं। उनके यहाँ धर्म किसी एकांत साधना की वस्तु नहीं, बल्कि समाज में रहते हुए मनुष्य के उत्तरदायित्व का नाम है। इस अर्थ में 'धर्म का मर्म कर्म' संग्रह की नैतिक चेतना को विशेष ऊँचाई देती है।

'कोई धन से ठगाता है तो कोई धन को ठगता है' कृषि-संकट, धन-बोध और जीवन-दृष्टि की विचारपूर्ण कथा है। कथा का आरंभ मौसम की मार से होता है। सावन बीत रहा है, वर्षा ठीक से नहीं हुई, धान का बीज संकट में है, खेतों में चिंता है और किसान के चेहरे पर भविष्य की असुरक्षा उतर आई है। यह केवल मौसम का वर्णन नहीं,

मिथिला के किसान जीवन की स्थायी बेचैनी का चित्र है। खेती प्रकृति पर निर्भर है, पर केवल प्रकृति पर नहीं। जल-व्यवस्था, खेती की पद्धति, बीज का चुनाव, श्रम, दूरदृष्टि और सामूहिक तैयारी भी उतनी ही आवश्यक है। मण्डलजी किसान की चिंता को केवल दया का विषय नहीं बनाते; वे उसे जीवन और व्यवस्था के बड़े प्रश्न से जोड़ते हैं।

कथा में बातचीत धीरे-धीरे वर्षा, खेती और फसल से उठकर धन और जीवन के संबंध तक पहुँचती है। यही मण्डलजी की कथा-कला है। वे आरंभ में साधारण प्रसंग रखते हैं, फिर उसी के भीतर जीवन-दर्शन का द्वार खोल देते हैं। धन मनुष्य के जीवन का साधन है, पर जब मनुष्य धन को ही जीवन मान लेता है, तब वह धन से ठगा जाता है। इसके विपरीत जो मनुष्य धन को श्रम, परिवार, जिम्मेदारी, भविष्य और जीवन-संरचना के साधन के रूप में देखता है, वह धन का सही उपयोग करता है। यहाँ 'धन को ठगना' लोभ या चालाकी नहीं, बल्कि धन को जीवन के अधीन रखना है। यही कथा का गहरा संकेत है।

इस कहानी में कृषि और भाग्य का संबंध भी सूक्ष्म ढंग से उपस्थित है। मण्डलजी भाग्य को निष्क्रिय प्रतीक्षा नहीं मानते। भाग्य जिम्मेदारी, कर्म, तैयारी और विवेक से बनता है। किसान यदि केवल आकाश की ओर देखता रहे और धरती, पानी, बीज, पद्धति और व्यवस्था पर विचार न करे, तो संकट गहराता है। पर यदि वह स्थिति को समझे, अनुभव से सीखे और धन को साधन की तरह बरते, तो वही जीवन को सँभाल सकता है। इस अर्थ में यह कथा खेती की कथा होते हुए भी जीवन-व्यवहार की कथा है। यह मनुष्य को सिखाती है कि धन का मूल्य है, पर जीवन धन से बड़ा है; और धन तभी उपयोगी है, जब वह जीवन को टिकाने, संबंधों को सँभालने और भविष्य को बनाने में सहायक हो।

इन दसों कहानियों को एक साथ पढ़ने पर स्पष्ट होता है कि यह संग्रह किसी एक विषय तक सीमित नहीं है, फिर भी इसकी आंतरिक

धारा एक है। कहीं विश्वास का प्रश्न है, कहीं समाज की विघटनशीलता है; कहीं कर्म का अनुशासन है, कहीं आत्मविश्वास की जागृति; कहीं शिष्टाचार और संबंधों की मर्यादा है, कहीं असफलता से जूझते युवक का आत्मबोध; कहीं इष्ट और अनिष्ट प्रवृत्तियों का संघर्ष है, कहीं स्वभाव और प्रभाव का विवेक; कहीं धर्म का कर्ममय अर्थ है, तो कहीं धन और जीवन का गहरा संबंध। इन सबको जोड़ने वाली मूल चिंता है मनुष्य को मनुष्य बनाए रखना।

मण्डलजी की कहानियों में जीवन-बोध है, पर वह बाहर से थोपा हुआ विचार नहीं है। वह खेत में काम करने वाले का अनुभव है, बुजुर्ग की समझ है, शिक्षक की सीख है, परिवार की चिंता है, समाज की टूटन है, स्त्री की मौन उपस्थिति है, किसान की प्रतीक्षा है, विद्यार्थी की जिज्ञासा है और मनुष्य के भीतर चल रहे संघर्ष से उपजा हुआ अनुभव है। इसीलिए उनकी कहानी पढ़ते समय पाठक को लगता है कि वह केवल कथा नहीं पढ़ रहा, बल्कि अपने समय, अपने समाज और अपने भीतर को भी पढ़ रहा है। उनकी कथाएँ पाठक को झकझोरती नहीं, धीरे-धीरे भीतर उतरती हैं। वे शोर नहीं करतीं, पर मन में प्रश्न छोड़ जाती हैं।

इस हिंदी भावानुवाद को तैयार करते समय सबसे बड़ी चुनौती यही रही कि मण्डलजी की मैथिली कथा-भाषा की आत्मा हिंदी में सुरक्षित रहे। उनकी भाषा में मिथिला के गाँवों की गंध है, लोक-व्यवहार की गरिमा है, बुजुर्गों की सहज बुद्धि है, किसानों की चिंता है, संबंधों की ऊष्मा है और जीवन को भीतर से देखने वाली दृष्टि है। केवल शब्दों का अनुवाद पर्याप्त नहीं हो सकता था। भाव, लय, स्थिति, संबोधन, लोक-संवेदना और कथ्य की नैतिक गंभीरता को साथ लेकर चलना आवश्यक था। प्रयास यही रहा है कि हिंदी पाठक कथा पढ़ते समय मूल मैथिली जीवन की आत्मीयता का अनुभव करे और भाषा उसके लिए सहज,

सुबोध और भावपूर्ण बनी रहे।

'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' हिंदी पाठकों के सामने मण्डलजी के इसी जीवन-सत्य को रखने का विनम्र प्रयास है। यह पुस्तक बताती है कि जीवन की असली जीत बाहरी प्रतिष्ठा, धन, पद या तुलना में नहीं है। असली जीत है विश्वास को बचा लेना, कर्म करते रहना, शिष्टाचार निभाना, अपने को पहचानना, धर्म को सेवा में बदलना, धन को जीवन से बड़ा न होने देना और कठिन समय में भी मनुष्यत्व को सुरक्षित रखना।

इस संग्रह का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि मण्डलजी जीवन को किसी एक सिद्धांत में बाँधकर नहीं देखते। उनके लिए जीवन बहता हुआ अनुभव है। उसमें विश्वास भी है, संघर्ष भी है, विवेक भी है, भूल भी है, सुधार की संभावना भी है और मनुष्य के भीतर छिपी हुई नैतिक शक्ति भी। वे जीवन को केवल सुख-दुख की कहानी नहीं बनाते, बल्कि उसे कर्म, संबंध और उत्तरदायित्व की कसौटी पर परखते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में पात्र साधारण दिखाई देते हैं, पर उनके प्रश्न बड़े होते हैं। घटना छोटी लगती है, पर उसका अर्थ देर तक पाठक के भीतर बना रहता है।

मण्डलजी की कथा-दृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वे लोकजीवन को सजावटी पृष्ठभूमि नहीं बनाते। उनके यहाँ गाँव केवल दृश्य नहीं, जीवन की सक्रिय भूमि है। खेत में उगती फसल, वर्षा की प्रतीक्षा, सूखे की चिंता, हाट-बाजार की गति, घर-परिवार की व्यवस्था, बुजुर्गों की सलाह, स्त्रियों की मौन उपस्थिति, युवाओं की बेचैनी, शिक्षित मनुष्य की असुरक्षा और धर्म-समाज की बदलती स्थिति, ये सब उनके कथा-संसार के जीवित घटक हैं। वे इन सबको एक साथ देखते हैं। इसी कारण उनकी कहानियाँ जीवन की एकांगी व्याख्या नहीं करतीं, बल्कि मनुष्य और समाज के बीच चल रहे जटिल संबंधों को सामने रखती हैं।

इन कहानियों में स्त्री की उपस्थिति विशेष ध्यान देने योग्य है।

मण्डलजी की कथा में स्त्री हमेशा मुखर भाषण करती हुई नहीं आती, पर वह परिवार, संवेदना, सेवा, श्रम और संबंधों की आंतरिक शक्ति के रूप में उपस्थित रहती है। कहीं वह घर की व्यवस्था सँभालती है, कहीं संकट की सूचना देती है, कहीं मौन सहनशीलता से परिवार को बाँधे रखती है, कहीं जीवन-मूल्य को बचाने वाली शक्ति बन जाती है। ग्रामीण समाज में स्त्री का श्रम अनेक बार अनकहा रह जाता है, पर मण्डलजी उस अनकहे श्रम को कथा की पृष्ठभूमि में जीवित रखते हैं। इस दृष्टि से उनकी कहानियाँ केवल पुरुष अनुभव की कथा नहीं, बल्कि पूरे ग्राम्य जीवन की समेकित संवेदना हैं।

इस संग्रह का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष संवाद है। मण्डलजी संवाद को केवल कथानक आगे बढ़ाने का साधन नहीं बनाते। उनके संवाद लोक-प्रज्ञा के वाहक हैं। पात्र जब बात करते हैं, तो वे केवल सूचना नहीं देते, जीवन का अनुभव व्यक्त करते हैं। बुजुर्गों की बोली में समय की तपन है, किसान की बात में धरती से जुड़ा हुआ यथार्थ है, शिक्षक की बात में दिशा है, विद्यार्थी की जिज्ञासा में भविष्य है और साधारण गृहस्थ की भाषा में जीवन का व्यावहारिक ज्ञान है। यही संवाद उनकी कहानियों को जीवंत बनाता है। हिंदी भावानुवाद में इस संवाद-संवेदना को सुरक्षित रखना अत्यंत आवश्यक था, क्योंकि केवल कथानक का अनुवाद कर देने से मण्डलजी की कथा-आत्मा नहीं बच सकती।

भावानुवाद का अर्थ यहाँ केवल भाषा बदलना नहीं है। मैथिली से हिंदी में आते हुए शब्द बदलते हैं, वाक्य बदलते हैं, पर जीवन-संवेदना नहीं बदलनी चाहिए। मण्डलजी की कथा-भाषा में मिथिला की मिट्टी, लोक-उच्चारण, संबंध-सूचक संबोधन, घरेलू लय, ग्रामीण गति और जीवन की सांस्कृतिक ध्वनियाँ हैं। हिंदी में इन्हें पूरी तरह ज्यों-का-त्यों रखना संभव नहीं, पर उनके भाव और स्वभाव को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। इस अनुवाद का प्रयत्न इसी दिशा में है कि हिंदी पाठक

कथा को पढ़ते समय केवल अर्थ न समझे, बल्कि उस लोक-संसार की धड़कन भी अनुभव करे, जहाँ से ये कहानियाँ निकली हैं।

मण्डलजी की कहानियों में नैतिकता उपदेश के रूप में नहीं आती। वह अनुभव से जन्म लेती है। पात्र जीवन की परिस्थिति में पड़ते हैं, बात करते हैं, गलती करते हैं, सोचते हैं, किसी बुजुर्ग या अनुभवी व्यक्ति से सीखते हैं, और धीरे-धीरे कथा के भीतर अर्थ खुलता है। यही उनकी कला है। वे पाठक को आदेश नहीं देते; वे उसे जीवन के सामने खड़ा कर देते हैं। पाठक स्वयं देखता है कि विश्वास टूटे तो समाज कैसा हो जाता है, कर्म छूटे तो मन कैसा भटकता है, धन जीवन पर हावी हो जाए तो मनुष्य कैसे ठगाता है, और धर्म यदि कर्म से अलग हो जाए तो केवल बाहरी ढाँचा बच जाता है।

आज के समय में 'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। मनुष्य बाहर की दौड़ में जितना तेज हुआ है, भीतर से उतना ही अस्थिर भी हुआ है। सफलता की परिभाषा बदल गई है। धन, पद, नौकरी, प्रतिष्ठा और सुविधा को जीवन की उपलब्धि मान लिया गया है। पर मण्डलजी की कहानियाँ याद दिलाती हैं कि जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मनुष्य बने रहना है। संबंधों में भरोसा बचा रहे, व्यवहार में शिष्टता बची रहे, कर्म में ईमानदारी बची रहे, धर्म में सेवा बची रहे, धन पर विवेक बना रहे और शिक्षा मनुष्य को भीतर से सजग बनाए, यही वास्तविक जीवन-विजय है।

इस पुस्तक का हिंदी पाठक के लिए विशेष महत्त्व है। मैथिली में रचित यह कथा-संसार हिंदी पाठक को मिथिला के गाँवों से परिचित कराता है, पर उससे भी अधिक वह उसे मनुष्य के साझा जीवन-सत्य से जोड़ता है। भाषा बदल जाने पर भी भूख, श्रम, संबंध, विश्वास, भय, असफलता, धर्म, धन और आत्मबोध के प्रश्न वही रहते हैं। यही साहित्य की व्यापकता है। स्थानीय जीवन जब ईमानदारी से लिखा जाता है, तो

वह अपने क्षेत्र से बाहर भी अर्थवान हो जाता है। मण्डलजी की कहानियाँ इसी व्यापक मानवीयता की कहानियाँ हैं।

अंततः 'जीवन की प्रतिस्पर्द्धा' जीवन को बाहर से देखने की नहीं, भीतर से समझने की पुस्तक है। यह बताती है कि मनुष्य की असली परीक्षा कठिन समय में होती है। जब समाज में भय हो, तब विश्वास बचाना; जब जीवन में असफलता हो, तब आत्मबोध जगाना; जब धर्म पाखंड में बदलता दिखे, तब कर्म को धर्म बनाना; जब धन आकर्षित करे, तब जीवन-मूल्य को धन से ऊपर रखना; जब संबंधों में दूरी आए, तब शिष्टाचार और आत्मीयता को बचाए रखना, यही जीवन की वास्तविक प्रतिस्पर्द्धा है।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की ये कहानियाँ हमें साधारण जीवन का असाधारण अर्थ समझाती हैं। वे बताती हैं कि गाँव केवल अतीत नहीं, आज भी मनुष्य के नैतिक निर्माण की भूमि है। खेत केवल अन्न नहीं उगाते, वे धैर्य भी उगाते हैं। परिवार केवल साथ रहने की व्यवस्था नहीं, संबंधों की परीक्षा है। धर्म केवल मान्यता नहीं, कर्म की सच्चाई है। शिक्षा केवल पढ़ाई नहीं, विवेक की जागृति है। धन केवल संग्रह नहीं, उपयोग की बुद्धि है। और मनुष्य केवल जीवित रहने से मनुष्य नहीं होता, वह विश्वास, श्रम, सेवा, संयम और करुणा से मनुष्य बनता है।

इसी विश्वास के साथ यह हिंदी भावानुवाद पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है कि पाठक इन कहानियों में केवल मिथिला को नहीं, अपने समाज और अपने भीतर के मनुष्य को भी देख सकेंगे। यही इस पुस्तक की सार्थकता है और यही मण्डलजी की कथा-दृष्टि का स्थायी महत्त्व।

- मुन्नी कामत

अटूट विश्वास

☰

मिथिलांचल की धरती पर सुल्तानपुर नाम का एक गाँव है। वैसे, गाँवों और उनके नामों का कोई एक निश्चित ठिकाना नहीं होता, और एक अर्थ में होता भी है। निश्चित न होने का कारण यह है कि सारे गाँव एक ही समय में, एक ही विचार के अनुसार नहीं बसे कि उनके नाम भी किसी एक ही आधार पर रखे जाते। और निश्चित होने का कारण यह है कि किसी-किसी गाँव में समय-समय पर ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति हुए, जिनके नाम पर गाँव के पुराने नाम, अर्थात पूर्व से चले आ रहे नाम, बदल दिए गए और बाद में वही नाम चल पड़े। जो हुआ, जैसे हुआ, वह इतिहास का विषय है।

इस समय चर्चा सुल्तानपुर गाँव की है, इसलिए बात भी सुल्तानपुर की ही की जाए। सुल्तानपुर दूसरे गाँवों जैसा नहीं है। कहने का आशय यह है कि कुछ गाँव ऐसे होते हैं जिनके बीच से कोई धारा बहती है, कोई नदी गुजरती है। नदी के कारण जमीन का कटाव, छँटाव और बालू से भराव होता है, जिससे उनका रूप-रंग दूसरे गाँवों से भिन्न हो जाता है। भूमि की बनावट भी बदल जाती है। जब जमीन की बनावट ही अलग हो, दूसरे गाँवों से भिन्न हो, तब उस गाँव की उपज-बाड़ी और जीवन-व्यवस्था भी भिन्न हो ही जाती है। हम देखते हैं कि जिस गाँव में पानी का फैलाव अधिक रहता है, अर्थात जहाँ बाढ़ का प्रकोप अधिक होता है, वहाँ जमुनी, यानी छोटे आकार के जामुन, के पेड़ अधिक पाए जाते हैं।

और जिस गाँव में बाढ़ का फैलाव कम होता है या बिल्कुल नहीं होता, वहाँ अनेक प्रकार के फलदार पेड़-पौधे मिलते हैं। अभी उस विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुल्तानपुर गाँव में रमेश और रहमत का जन्म एक ही महीने में, अर्थात आसिन में, पन्द्रह दिनों के आगे-पीछे हुआ। रमेश का जन्म दुर्गापूजा, शारदीय नवरात्र, से पहले हुआ और रहमत का जन्म दुर्गापूजा के बाद।

सुल्तानपुर गाँव की बनावट ऐसी है कि वहाँ न तो कोई धारा-नाला है, न ही दूसरे गाँवों जैसी खेत-पथार की भिन्न-भिन्न बनावट। खेतों की बनावट से आशय उनके आकार-प्रकार और धरातल से है। जब खेत अनेक तरह के होते हैं, कहीं नीची जमीन, कहीं ऊँची जमीन, तब उपज-बाड़ी में अंतर आ ही जाता है। नीची जमीन में पानी जमा हो जाता है, जिससे या तो उपज होती ही नहीं, और यदि होती भी है तो फसल जलभराव से पीड़ित रहती है।

सुल्तानपुर गाँव की जमीन एकरस है, अर्थात एक जैसी समतल। न ऊँची जमीन है, न नीची। जमीन एक समान होने के कारण पूरे गाँव में लगभग एक ही तरह की फसल होती है और सूखा-गरमी का प्रभाव भी एक जैसा पड़ता है। जमीन की इस एकरूपता से जीवन-व्यवस्था भी लगभग एक जैसी बनी हुई है। नई किस्मों के धान की खेती होने से पूरे गाँव की उपज भी एक जैसी दिखाई पड़ती है। सुल्तानपुर में एक सौ बीस दिनों में पकने वाले धान की खेती अधिक होती है। आसिन आते-आते वह धान फूटकर बालियों से भर गया था और खेतों में झुक आया था। गाँव की उपज देखकर किसानों के मन में एक जैसी प्रसन्नता उमड़ रही थी।

रमेश और रहमत के परिवारों के बीच चार पीढ़ियों से दोस्ती चली आ रही थी। इस कारण दोनों परिवारों के बीच ऐसा सम्बन्ध बन गया था कि बाहर के लोगों को, यानी गाँव से बाहर आने-जाने वालों को, यह

पहचान में ही नहीं आता था कि रमेश के परिवार और रहमत के परिवार के बीच किसी प्रकार का जातीय या साम्प्रदायिक भेद है। जैसे मनमोहन, रमेश के पिता, वैसे ही महमूद, रहमत के पिता। दोनों साथ बैठकर खाते-पीते थे और लगभग एक ही तरह के कपड़े भी पहनते थे। आज के समय में जैसे खान-पान में दूरी बन गई है, वैसे ही पहनावे में भी अंतर आने लगा है। पर उन दिनों अधिकतर समय मनमोहन और महमूद साथ बैठकर अपने-अपने जीवन की बातें करते थे। हाट-बाजार जाना हो या गाँव-गिराँव का कोई काम हो, दोनों साथ जाते और साथ लौटते थे।

फिर भी बाहर के लोग, अर्थात दूसरे गाँवों के लोग, सुल्तानपुर को हिन्दू गाँव ही समझते थे। उसे हिन्दू गाँव समझने के कई कारण थे, पर उनमें दो कारण प्रमुख थे। पहला यह कि गाँव में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। सत्तर से अस्सी प्रतिशत परिवार हिन्दू थे और बीस से तीस प्रतिशत परिवार मुसलमान। दूसरा कारण देवस्थानों से जुड़ा था। सुल्तानपुर में हिन्दुओं के दर्जन से अधिक मन्दिर थे, जैसे धर्मराज का एक स्थान, महावीरजी के दो मन्दिर, काली का एक मन्दिर, राम के दो मन्दिर आदि। जबकि मुसलमानों के पास एक मस्जिद और एक ईदगाह थी।

जो भी हो, मन्दिर-मस्जिद तो आँखों से दिखाई देने वाले स्थान हुए। असली बात यह थी कि जैसे हिन्दुओं के घर-आँगन और दुआर-दरवाजे पर मुसलमान पुरुषों और स्त्रियों का आना-जाना था, वैसे ही मुसलमानों के घर-आँगन और दुआर-दरवाजे पर हिन्दू पुरुषों और स्त्रियों का भी सहज आना-जाना था। दोनों ओर आवाजाही थी, अपनापन था, और जीवन का व्यवहार बिना किसी रोक-टोक के चलता था।

आसिन मास की आज पूर्णिमा है। महीने भर के भीतर लोग पन्द्रह दिन मातृनवमी और पितृपक्ष के विधान, भोज-भात और पितृ-स्मरण में लगे रहे। उसके बाद दस दिनों तक दुर्गापूजा मनाई गई। आज कोजगरा

भी है। साल भर के भीतर जिन-जिन परिवारों में विवाह हुआ है, उनके यहाँ कोजगरा का विधान भी होगा। वैसे विवाह तो लड़का और लड़की के बीच होता है, पर कोजगरा का भार और पावनी वर-पक्ष के यहाँ होती है। लड़कीवाले वर-पक्ष के घर भार लेकर जाते हैं। इसमें एक बात और भी है। हिन्दुओं की सभी जातियों में कोजगरा नहीं होता। कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें कोजगरा मनाया जाता है, और कुछ जातियाँ हिन्दू समाज के भीतर ही ऐसी हैं जिनमें कोजगरा का विधान नहीं है।

मनमोहन और महमूद के घरों के बीच लगभग एक बीघे भर का फासला रहा होगा। दोनों परिवारों में एक-एक जोड़ी बैल और एक-एक भैंस भी थी। जमीन भी लगभग एक जैसी थी, इसलिए उपज-बाड़ी और खान-पान भी लगभग एक जैसा था।

एक ओर आसिन मास की पूर्णिमा के चाँद की लालिमा थी, दूसरी ओर पान-मखान का पर्व कोजगरा। मनमोहन और महमूद दोनों हकार निभाने तीसरी साँझ, अर्थात लगभग आठ बजे, गोपीकृष्ण के यहाँ पहुँचे। संयोग ऐसा हुआ कि तब तक गोपीकृष्ण के यहाँ समधियौर से भार नहीं आया था। समाज में जिन लोगों को हकार दिया गया था, वे एक-एक, दो-दो कर गोपीकृष्ण के दरवाजे पर जुटने लगे थे। गोपीकृष्ण ने इतना प्रबंध अवश्य कर रखा था कि समाज के आमंत्रित लोग आराम से बैठ सकें। समधियौर से, अर्थात बेटे के ससुराल से, गोपीकृष्ण के यहाँ भार आने वाला था, जो अभी तक नहीं पहुँचा था। इसलिए पान-मखान के बँटवारे में रोक लगी हुई थी।

मनमोहन और महमूद एक साथ बैठकर अपने-अपने परिवार की बातें कर रहे थे। पहले उन्होंने खेतों में लहलहाते धान की चर्चा की। बातचीत के क्रम में खेतों में खड़े सीता धान को देखकर दोनों की राय एक हो गई। सीता धान एक विशेष किस्म का धान है, जो देखने में जितना महीन और सुन्दर होता है, उपज में भी उतना ही अच्छा और खाने में भी

स्वादिष्ट होता है। दोनों इस बात पर सहमत हुए कि जीवन में इससे अच्छी धान की उपज कभी नहीं हुई थी। धान की चर्चा के बाद दोनों का विचार परिवार की ओर चला गया। दोनों को एक महीने के भीतर बेटा हुआ था। इस पर दोनों एक मत हो गए कि दोनों बच्चों की दोस्ती पक्की करा देंगे। पारिवारिक सम्बन्धों के बीच व्यक्ति-व्यक्ति की दोस्ती का भी अपना अलग स्थान होता है।

समय आगे बढ़ा। सभी जानते हैं कि जैसे समय गतिशील है, वैसे ही संसार की प्रत्येक वस्तु भी गतिशील है। बच्चा जन्म लेता है। समय के साथ वह बढ़ने लगता है, बच्चे से किशोर होता है, फिर जवान होता है और अन्ततः वृद्ध भी हो जाता है।

चार साल बाद जैसे रमेश स्कूल जाने योग्य हो गया, वैसे ही रहमत भी हो गया। मनमोहन और महमूद दोनों ने विचार किया कि परसों गुरुवार है, बच्चों का नाम स्कूल में लिखवा देंगे। गुरुवार को सभी शुभ दिन मानते हैं। गुरुवार का दूसरा नाम गुरु-वार, अर्थात गुरु-दिन भी कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ प्रकाश का दिन, ज्ञान का दिन।

गाँव के ही लोअर प्राइमरी स्कूल में दोनों अपने-अपने बेटे को साथ लेकर पहुँचे। घर से दोनों अलग-अलग निकले थे, पर स्कूल एक ही समय पहुँचे। स्कूल में केवल एक शिक्षक थे। विद्यार्थियों की संख्या भी पचास से कम ही थी। आज का परिवेश बदल गया है। अब पहली कक्षा से लेकर मिडिल तक, अर्थात सातवीं तक, पढ़ाई एक ही स्कूल में होने लगी है, जिससे शिक्षकों की संख्या भी बढ़ गई है और विद्यार्थियों की संख्या भी। वैसे, गाँव-समाज में बच्चों को पढ़ाने की सोच भी बदल गई है। इस बदलाव से लोगों के मन में इतना विचार तो आ ही गया है, जो पहले नहीं था। पहले माता-पिता में बेटी को पढ़ाने का विचार नहीं था, पर समय के साथ वह सोच भी बदलकर अब समाज में जगह बना चुकी है।

स्कूल में दोनों अपने-अपने बेटों को लेकर एक ही समय पहुँचे थे।

मनमोहन रमेश को और महमूद रहमत को साथ लाए थे। शिक्षक विश्वनाथ बाबू के सामने दोनों ने यह बात रखी कि परिवारों के बीच तो व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों रूपों में सम्बन्ध है ही, अब जब ये बच्चे विद्यालय में प्रवेश लेने आए हैं, तो इन दोनों की दोस्ती भी करा दीजिए। जब दोनों के बीच दोस्ती हो जाएगी, तब जैसे घर से विद्यालय आते समय साथ-साथ आएँगे, वैसे ही विद्यालय से घर भी साथ-साथ लौटेंगे। वैसे, शिक्षक विश्वनाथ बाबू मन-ही-मन समझ रहे थे कि मनुष्य के जीवन में दोस्ती का क्या महत्त्व होता है। पर जो बात विश्वनाथ बाबू समझ रहे थे, वह बात न मनमोहन समझ रहे थे, न महमूद। विश्वनाथ बाबू समझ रहे थे कि दोस्ती ऐसा सम्बन्ध है जो जीवन में एकरूपता लाता है, जीवन-मरण तक की एकरूपता। जबकि मनमोहन और महमूद दोस्ती को अभी साथ-साथ चलने का सम्बन्ध ही समझ रहे थे।

समय अपनी गति से आगे बढ़ता गया। रमेश और रहमत दोनों ने मैट्रिक पास किया। मैट्रिक पास करने के बाद दोनों में से किसी ने कॉलेज में नामांकन नहीं कराया। एक तो पढ़ने-लिखने की जो धारणा आज के परिवेश में बन गई है, वह पहले नहीं थी। आज का परिवेश ऐसा बन गया है कि जितना अधिक पढ़ेंगे, जितनी उच्च शिक्षा प्राप्त करेंगे, उतनी ही ऊँची नौकरी मिलेगी। पहले ऐसी धारणा नहीं थी। पहले की समझ में नौकरी जीवन का केन्द्र नहीं थी। पारिवारिक जीवन जैसा था, चाहे गृहस्थी हो या व्यापार, उसी के अनुकूल माता-पिता अपने बच्चों का जीवन देखना चाहते थे। बच्चे भी माता-पिता के जीवन को स्वीकार करते हुए, उसी के अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहते थे और बनाते भी थे।

समय की गति के साथ मनमोहन ने रमेश का विवाह कराया और महमूद ने रहमत का विवाह कराया। कुछ समय बाद रमेश को भी सन्तान हुई और रहमत को भी। जैसे रमेश अपने पिता का इकलौता बेटा था, वैसे ही रहमत भी अपने पिता का इकलौता बेटा था। कुछ वर्षों के बाद

मनमोहन भी चल बसे और महमूद भी, पर चार पीढ़ियों से दोनों परिवारों के बीच जो सम्बन्ध चला आ रहा था, उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं आई।

प्रतिदिन रमेश और रहमत एक साथ एक-दो घंटे बैठकर गाँव-समाज से लेकर अपने परिवार तक की बातें करते रहते थे। जैसे रमेश के परिवार में किसी बड़ी बीमारी के समय रहमत और उनकी पत्नी जी-जान से लग जाते थे, वैसे ही रहमत के परिवार में बीमारी होने पर रमेश और उनकी पत्नी भी पूरे मन से सेवा में लग जाते थे। मतलब यह कि डॉक्टर के यहाँ जाना हो या बाजार से दवा लानी हो, दोनों परिवार एक-दूसरे के लिए हर समय तैयार रहते थे। उसी तरह परिवार में कोई काम-धन्धा हो, घर-गृहस्थी का मामला हो या विवाह-दान, दोनों परिवार हमेशा एक-दूसरे का साथ निभाते रहे।

समय की गति के साथ समाज की गति-विधि भी चलती रहती है। कभी वह अच्छी चलती है, कभी बुरी भी। समाज में, अर्थात सुल्तानपुर गाँव में, दूसरे गाँवों की तरह पहले जातीय उन्माद पैदा हुआ। समाज के भीतर जातीय उन्माद कोई नई चीज नहीं है। यह आज ही नहीं, बहुत पहले से होता आया है। मनुष्यों के बीच ऐसी दुर्भावना सदा रही है कि एक जाति दूसरी जाति पर अपना शासन जमाना चाहती है। यह बात भी नहीं कही जा सकती कि ऐसी दुर्भावना केवल हिन्दू-मुसलमान के बीच ही रही है। जैसे हिन्दुओं के बीच एक जाति दूसरी जाति पर हावी होना चाहती है, वैसे ही मुसलमानों के बीच भी एक जाति दूसरी जाति पर अपना दबदबा बनाए रखना चाहती है। यह धारणा केवल जाति-जाति के बीच ही नहीं रही, जाति के भीतर भी रही है। एक ही जाति के भीतर भी ऐसा भाव बना रहता है कि कोई एक दियादी परिवार, या कुछ खास परिवार, जो आर्थिक रूप से आगे बढ़ गए हैं, वे आर्थिक रूप से पिछड़े परिवारों पर अपना दबदबा बनाए रखें।

समय ने करवट ली। साम्प्रदायिक उन्माद ने जोर पकड़ा। एक

सम्प्रदाय के लोगों ने दूसरे सम्प्रदाय के लोगों पर आक्रमण किया। ऐसा आक्रमण केवल एक गाँव में नहीं हुआ। अधिकांश गाँव उसकी चपेट में आए। जैसे आग की लपट एक घर से दूसरे घर को पकड़ लेती है, वैसे ही जातीय और साम्प्रदायिक आग की लपट गाँव-गाँव फैल गई। सुल्तानपुर भी उससे अछूता नहीं रहा। जातीय और साम्प्रदायिक उन्माद कैसा होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जाएगी।

जैसे रमेश के मन में रहमत के प्रति जीवन भर की दोस्ती का भाव था, वैसे ही रहमत के मन में भी रमेश के प्रति वही भाव था। यह केवल व्यक्ति-व्यक्ति की बात नहीं थी, यानी केवल रमेश के मन में रहमत के लिए या रहमत के मन में रमेश के लिए ही नहीं, बल्कि दोनों परिवारों के सभी लोगों के मन में वही विश्वास था। पर समाज में, अर्थात सुल्तानपुर के समाज में, एक दूसरा भाव उग्र रूप से जाग उठा था। साथ ही संयोग यह भी हुआ कि घर-घर में मोबाइल आ गया था। समाज के भय से न रमेश रहमत के यहाँ जा पा रहा था और न रहमत रमेश के यहाँ आ पा रहा था। रमेश ने रहमत को फोन किया।

"रहमत भाई?"

रहमत बोले- "हाँ, रमेश भाई।"

रमेश ने कहा-

"गाँव-समाज में तो आग लगी हुई है!"

रहमत बोले-

"हाँ, लगी तो है, पर ऐसी आग थोड़े ही दिनों की होती है। आप सुरक्षित रहिए। जैसे हमेशा से हम दोनों का एक-दूसरे पर अटूट विश्वास बना रहा है, वैसे ही आगे भी बना रहेगा।" ❑

गजपट लोग

☰

कातिक का महीना था। सुबह के आठ बज रहे थे। मुझे झंझारपुर हाट जाना था, इसलिए जलपान के लिए बैठा ही था। मन-ही-मन हिसाब लगा रहा था कि हाट के काम तो बहुत हैं, पर जेब में उतना पैसा नहीं। यही सोच रहा था कि जितना पैसा है, उसी में चीजों की कटौती करते हुए जरूरत भर सामान खरीदना होगा। तभी अपराजित आ पहुँची। आते ही दरवाजे पर ठिठककर पुकारने लगी-

"काका, काका?"

मैं अपने आँगन के पूरब वाले घर के ओसारे पर जलपान करने बैठा था। पत्नी छिपली में रोटी-तरकारी लेकर मेरे सामने रख ही रही थीं कि अपराजित की आवाज मेरे कानों में भी पड़ी और पत्नी के कानों में भी। आवाज से मैं नहीं पहचान पाया कि वह अपराजित है, पर पत्नी ने अनुमान लगा लिया कि अपराजित ही होगी। मैंने पत्नी से कहा-

"दरवाजे पर कोई आवाज दे रहा है, जाकर देखिए कौन है।"

मेरे इतना कहते ही पत्नी बोलीं-

"लगता है, अपराजित होगी।"

अपराजित हीरालाल भाई की छोटी बेटी थी। उसकी उम्र करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष रही होगी। मैंने पत्नी से कहा-

"जाकर कहिए कि मैं जलपान कर रहा हूँ, इसलिए आँगन में ही

आ जाए।"

मेरे कहने पर पत्नी दरवाजे पर गईं और अपराजित से बोलीं-

"बच्ची, काका जलपान कर रहे हैं। जो कहना हो, आँगन में जाकर कहो।"

पत्नी के इतना कहते ही अपराजित दरवाजे से आँगन में आ गई। मुझे ओसारे पर जलपान करते देखकर बोली-

"काका, जरा हमारे यहाँ चलिए।"

अपराजित की बात सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। मैं हाट जाने की तैयारी में था और इसी बीच अपराजित मुझे अपने यहाँ चलने के लिए कह रही थी। मैंने कहा-

"बच्ची, ऐसी क्या बात है कि तुम मुझे अपने यहाँ चलने के लिए कह रही हो? मुझे हाट जाना जरूरी है, इसलिए जल्दी-जल्दी जलपान कर रहा हूँ।"

अपराजित ने बात खोलकर नहीं कही थी, इसलिए मैंने ऐसा पूछा। पत्नी को पास देखकर वह कुछ झिझक गई। उसकी झिझक का कारण पत्नी की उपस्थिति थी। फिर पास आकर धीरे से फुसफुसाई-

"काका, बाबू घर से भागे जा रहे हैं।"

अपराजित की बात सुनकर मैं उलझन में पड़ गया। एक ओर मैं हाट जाने की तैयारी में था, दूसरी ओर अपराजित कह रही थी कि उसके बाबू घर से भागे जा रहे हैं, यानी हीरालाल भाई घर छोड़ने पर उतारू हैं। कुछ सूझ ही नहीं रहा था कि क्या करूँ। यदि अभी हीरालाल भाई के यहाँ न जाकर हाट चला जाऊँ और इसी बीच हीरालाल भाई सचमुच चले जाएँ, तब क्या होगा? दूसरी ओर मन में यह भी उठ रहा था कि यदि उनके यहाँ जाऊँ और बातचीत में देर लग जाए, तो हाट का समय ही निकल जाएगा। मन-ही-मन सोच भी रहा था और जल्दी-जल्दी जलपान

भी कर रहा था। मैंने अपराजित से पूछा-

"बच्ची, हीरालाल भाई घर से क्यों भागे जा रहे हैं?"

मेरे पूछते ही अपराजित बोली-

"काका, मुझे नहीं मालूम।"

तब तक जलपान समाप्त हो गया। मैंने हाथ धोया, पानी पिया और अपराजित से कहा-

"बच्ची, वैसे तो मैं हाट जाने की तैयारी में हूँ, पर तुम्हारे यहाँ जाना जरूरी है। इसलिए पहले तुम्हारे ही यहाँ चलूँगा।"

मैं आगे-आगे चला और अपराजित पीछे-पीछे चल पड़ी। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मेरे मन में आया कि शायद भौजी, अर्थात हीरालाल भाई की पत्नी रामदुलारी, ने कुछ कहा होगा और उसी पर क्रोधित होकर हीरालाल भाई ने घर छोड़ देने का विचार कर लिया होगा। इसलिए अच्छा होगा कि पहले दरवाजे पर जाकर हीरालाल भाई से भेंट न करूँ, बल्कि पहले भौजी से ही पूछ लूँ कि बात क्या है। मैंने अपराजित से कहा-

"बच्ची, आँगन जाने वाली जो गली है, यानी पिछवाड़े की गली, उसी रास्ते तुम आगे-आगे चलो और मैं पीछे-पीछे चलता हूँ। शायद आँगन में ही भौजी मिल जाएँ। पहले उन्हीं से पूछ लेना है कि हीरालाल भाई को ऐसी क्या बात हुई है कि वे घर छोड़कर जाने को तैयार हो गए हैं।"

मेरे इतना कहते ही अपराजित पीछे से आगे आ गई और चलने लगी। मैं उसके पीछे-पीछे गली से आँगन पहुँचा। आँगन में पहुँचते ही देखा कि रामदुलारी भौजी पूरब वाले ओसारे के खम्भे से टिककर बैठी कुछ सोच रही हैं। मुझे देखते ही वे झटपट उठीं और आगे आकर खड़ी हो गईं। मैंने कहा-

"भौजी, भाई साहब ने घर से भाग जाने का विचार मन में क्यों

बिठा लिया है?”

भौजी को कुछ मालूम रहता, तभी तो कुछ कहतीं। उन्हें तो सचमुच कुछ मालूम ही नहीं था। बोलीं-

“क्या हुआ है, यह मुझे कहाँ मालूम है?”

मैंने पूछा-

“आपने उनसे कुछ कहा है क्या?”

भौजी बोलीं-

“नहीं, मैंने तो उनसे कुछ भी नहीं कहा है।”

भौजी की बात सुनकर मैं उलझन में पड़ गया। उलझन इस बात की थी कि भौजी बात छिपा रही हैं या सचमुच ठीक कह रही हैं। फिर मन ने कहा कि भौजी की बात पर पूरा अविश्वास कर लेना भी उचित नहीं होगा। इसलिए मैं आँगन से दरवाजे की ओर चल पड़ा। दरवाजे पर पहुँचते ही देखा, हीरालाल भाई चौकी पर सिर झुकाए बैठे हैं। भीतर से आक्रोश से भरे हुए। उनके पास ही चौकी पर एक झोला भी रखा था। झोला देखकर मन ने मान लिया कि शायद सचमुच उन्होंने घर छोड़ने का विचार कर लिया है। पास पहुँचकर मैंने कहा-

“भाई, आपसे ही मिलने आया हूँ।”

अपराजित की कही हुई बात मैं क्यों दोहराता। हीरालाल भाई मन-ही-मन इतने आक्रोशित थे कि उनके चेहरे का रंग बुझा-बुझा पड़ गया था। मेरे बोलते ही वे बोले- “मुनेश्वर, अब इस गाँव में, यानी रोहितपुर में, नहीं रहूँगा।”

तब तक रामदुलारी भौजी और अपराजित भी आँगन से दरवाजे पर पहुँच गईं। भौजी को देखकर मेरे मन में थोड़ा विश्वास जगा कि अच्छा हुआ, वे सामने आ गईं। यदि भौजी से हीरालाल भाई को कोई बात हुई होगी, तो दोनों आमने-सामने कह-सुन लेंगे। पर हीरालाल भाई ने पत्नी

पर कोई आक्षेप लगाए बिना कहा- "मुनेश्वर, यह गाँव अब रहने लायक नहीं रह गया। इसलिए यहाँ से चले जाना ही अच्छा होगा।"

हीरालाल भाई की बात सुनकर मन में आया कि उनसे कहूँ, भाई, मनुष्य कोई कौआ-मैना तो है नहीं कि कहीं से उड़ा और कहीं जाकर रहने लगा। मनुष्य को रहने के लिए घर-बार चाहिए, खेती-बारी और जीविका का आधार चाहिए। उसके साथ परिवार भी चाहिए और समाज भी। पर उसी क्षण लगा कि ऐसा कहना अभी उचित नहीं होगा। सम्भव है, किसी बात या विचार की गहरी ग्लानि से उनके मन में गाँव छोड़ने का विचार आया हो। ऐसी स्थिति में यदि मैं ऐसा कहूँगा, तो वह आग में घी डालने जैसा होगा। मैंने कहा-

"भाई, गाँव क्या किसी में बँटा हुआ है? यह सबका गाँव है। जैसे दूसरों का है, वैसे ही आपका भी है। फिर ऐसा विचार मन में क्यों ला रहे हैं?"

अपनी समझ से मैंने यह सोचकर कहा था कि हीरालाल भाई के मन का विचार दूसरी ओर मुड़ जाएगा और इससे उनका आक्रोश कुछ कम होगा। पर गाँव के लोगों के प्रति उनका मन इतना जल उठा था कि क्रोध वैसा-का-वैसा ही बना रहा। बोले- "मुनेश्वर, मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह जहाँ भी रहेगा, समाज में ही रहेगा। पर जब समाज ही भीतर से दूषित हो जाए, तब भला अच्छा आदमी कहाँ रहेगा?"

हीरालाल भाई का विचार मोड़ने की इच्छा से मैंने कहा-

"भाई, मनुष्य समाज में रहते हुए भी अपने निर्णयों में अकेला होता है। हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से अपने जीवन का मालिक है। इसके लिए आप इतने आक्रोशित क्यों हैं कि गाँव से ही चले जाने को तैयार हो गए हैं?"

मेरी बात सुनकर हीरालाल भाई का मन थोड़ा-सा ठहरा जरूर, पर चेहरे का रंग वैसा ही बना रहा जैसा पहले था। बोले- "मुनेश्वर, यही

गाँव है, जो कभी क्या था और अब क्या हो गया है! कहाँ चले गए हमारे बाप-दादा के विचार और कर्म!"

हीरालाल भाई की बात मैं ठीक से समझ नहीं पाया, इसलिए पूछा-

"वह क्या, भाई?"

हीरालाल भाई बोले-

"मुनेश्वर, समाज के एक-एक आदमी की करतूत कह रहा हूँ। ठीक से सुनना भी और विचारना भी।"

हीरालाल भाई ने जैसा कहा- वैसा ही मैं भी सुनने और विचारने के लिए सावधान हो गया। मुझे सावधान होते देखकर वे बोले-

"मुनेश्वर, इतना तो तुम भी समझते ही हो न कि मनुष्य की आत्मा ही मनुष्य की असली मालिक होती है?"

हीरालाल भाई के विचार के प्रवाह को देखकर मैंने कहा-

"हाँ, यह तो है ही।"

हीरालाल भाई बोले-

"तो तुम ही कहो, लोग दिन-रात अपनी ही आत्मा की हत्या कर रहे हैं या नहीं?"

हीरालाल भाई की व्यथित बात सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। वे कह तो ठीक रहे थे, पर इस बुढ़ापे में गाँव-परिवार छोड़कर कहीं चले जाना भी तो ठीक नहीं होगा। इसलिए बात को मोड़ने के लिए मैंने कहा-

"भाई साहब, आपका विचार अकाट्य है, पर यदि आप परिवार छोड़कर चले जाएँगे, तो परिवार की क्या दशा होगी?"

जैसे हीरालाल भाई ने सब कुछ पहले से सोच रखा हो, वैसे ही तुरन्त बोले- "मैं तो सबको, यानी परिवार के सभी सदस्यों से कहता हूँ

कि तुम लोग भी साथ चलो। ऐसे गाँव में एक दिन रहना भी नरक में रहने जैसा है। पर परिवार के लोग समझें, तब न?"

हीरालाल भाई की बात सुनकर लगा कि गाँव के प्रति उनका आक्रोश बहुत गहरा बैठ गया है। पर जब मैं यहाँ आ ही गया हूँ, तब यदि मेरे रहते भी हीरालाल भाई मेरी बात न मानें और गाँव छोड़कर चले जाएँ, तो यह ठीक कैसे होगा? इसलिए उनके आक्रोश के एक-एक सूत्र, एक-एक कारण को जानना जरूरी था। जैसे-जैसे वे कारण बताएँगे, वैसे-वैसे मैं उसका उत्तर देता चलूँगा। शायद इससे उनके मन का विचार कुछ बदलने लगे और अन्ततः वे गाँव छोड़ने का विचार त्याग दें। मैंने कहा-

"भाई साहब, ऐसा कौन-सा कारण है कि आपका मन गाँव से इतना टूट गया है?"

हीरालाल भाई बोले-

"मुनेश्वर, गाँव के एक-एक आदमी की चाल कह रहा हूँ, एक-एक मनुष्य की करतूत।"

हीरालाल भाई की बात सुनकर मैंने अपने को और सावधान किया, ताकि उनके एक-एक विचार को ठीक से, गहराई से समझ सकूँ और उसका समाधान करता चलूँ। मैंने कहा-

"भाई, ऐसा क्या कारण है कि गाँव के प्रति आपका मन इतनी घृणा से भर गया है?"

हीरालाल भाई बोले-

"बहुत पुरानी बात नहीं है। कल-परसों की ही बात कह रहा हूँ। रूपलाल को तो जानते ही हो?"

रूपलाल रोहितपुर का ही आदमी था। वह अपने को निर्गुणी मानता था, अर्थात निर्गुण सम्प्रदाय, कबीर पंथ, को मानने वाला समझता था। मैंने कहा- "क्यों नहीं जानूँगा? वह कोई दूसरे गाँव का अनजान

आदमी है क्या, जो नहीं जानूँगा?”

हीरालाल भाई बोले-

“देखते हो न, खजुरी बजा-बजाकर कबीरदास के कैसे-कैसे भजन गाता है। गाते समय कैसा झूमता रहता है। देखने से लगता है मानो कबीरदास ने अपनी पंक्तियों में जो विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें रूपलाल सचमुच हृदय से गा रहा है। पर उसकी करतूत सुनो। परसों की बात है। मैं जीतन की चाय की दुकान पर चाय पीने गया था। रूपलाल भी भंडारा खाकर आया था और वहीं बैठा था। रहुआवाली अपने पोते को लेकर दुकान पर आई और रूपलाल से बोली, ‘महात्माजी, इस बच्चे को देखिए। खाने-पीने में कोई कमी नहीं करती हूँ, फिर भी दिन-प्रतिदिन सूखता क्यों जा रहा है?’ इस पर रूपलाल बोला- ‘ताबीज देता हूँ। इसे डोरे में बाँधकर इसके गले में पहना दीजिए। जैसे ही यह ताबीज पहना देंगे, तभी से इसका रोग कटने लगेगा। पन्द्रह दिन बीतते-बीतते अच्छा हो जाएगा।’ रहुआवाली ने पूछा, ‘ताबीज का पैसा भी लगेगा?’ सिर हिलाते हुए रूपलाल बोला- ‘हाँ, वैसे तो दूसरे लोग इस ताबीज का दाम पचास रुपये लेते हैं, पर मैं केवल बीस रुपये लूँगा।’ रहुआवाली आँगन से बीस रुपये लाकर रूपलाल को दे आई और ताबीज खरीद लिया। अब तुम ही कहो, यदि साधु-महात्मा ऐसी-ऐसी करतूत करेंगे, तो गाँव-समाज की क्या दशा होगी?”

अपनी आँखों से दिन-रात ऐसा खेल देखता ही रहता हूँ, इसलिए अविश्वास करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। मैंने कहा-

“भाई साहब, जाने रूपलाल दास और जाने रहुआवाली। इसके लिए आप इतने आक्रोशित क्यों हैं? जो जैसा करेगा, वैसा पाएगा।”

हीरालाल भाई बोले-

“यह तो हुई रूपलाल की करतूत। अब किसुनलाल की सुनो।

शायद तुम्हें याद भी होगा, पिछले साल तक वह गोरखपंथी था। सारंगी लेकर गोरखनाथ के गीत-भजन गाता था और अपने को गुरु गोरखनाथ का शिष्य भी कहता था। इस बार क्या देख रहे हो? देखते हो न, उसने छपी हुई जिल्द तैयार करा ली है, एकरंगा वस्त्र भी धारण कर लिया है और झूठ-मूठ हनुमानजी का मन्दिर बनवाने के नाम पर लोगों से मोटी रकम का चन्दा उगाह रहा है। कर रहा है कि नहीं?"

बात आँखों से देखी हुई थी ही, इसलिए मैंने कहा-

"भाई साहब, कहावत है, 'कोई करता है अपने लिए, न माँ के लिए, न बाप के लिए।' फिर आप व्यर्थ क्यों परेशान हैं? हर आदमी अपना मालिक आप है। जैसा करेगा, वैसा पाएगा। छोड़िए दुनियादारी की बात। आप कैसे शान्ति से रहेंगे, वही सोचिए और वही कीजिए।"

मेरी बात सुनकर हीरालाल भाई का मन जैसे थोड़ा शान्त हुआ, पर पूरी तरह शान्त नहीं हुआ था। बोले-

"गाँव के लोगों को देखते हो या नहीं? पिछले चुनाव में, यानी पाँच वर्ष पहले जो चुनाव हुआ था, उसमें लोगों ने किस पार्टी को वोट दिया था और इस बार देखो, कैसे सब पलटकर दूसरी पार्टी में चले गए। जहाँ विचार ही डगमग रहेगा, वहाँ राजनीतिक सत्ता कैसी होगी?"

हीरालाल भाई की बात पूरी तरह सत्य लगी, पर आया तो मैं उन्हें रोकने ही था। इसलिए मैंने कहा-

"भाई साहब, गाँव के लोगों की चाल-ढाल के पीछे व्यर्थ इतना क्यों सोचते-विचारते हैं? मुझ पर विश्वास है या नहीं?"

एकाएक हीरालाल भाई का मन शान्त हुआ। मन शान्त होते ही वे बोले-

"मुनेश्वर, पूरे गाँव में तुम ही ऐसे आदमी हो जो अपने विचार पर खड़े रहते हो और मनुष्य को मनुष्य समझकर सेवा भी करते हो। इसलिए

बताओ, तुम्हारा क्या विचार है?”

मैंने कहा-

“भाई साहब, कौआ कान ले गया, यह सुनकर व्यर्थ कौए के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। अच्छा होगा कि पहले अपना कान टटोल लिया जाए। गाँव सबका है और सबका रहेगा। बाप-दादा ने जो परिवार बनाया है, उसी के अनुरूप अपने परिवार को सँभालते चलिए। दूसरों की करतूत देखकर अपना घर-गाँव छोड़ देना उचित नहीं है।”

हीरालाल भाई बोले-

“तुम्हारा विचार मान लेता हूँ।” ❑

भूत

☰

जीवन-वन में एक ऋषि रहते थे। जैसे लाखों-करोड़ों वृक्षों से भरे वन में कोई वृक्ष अपने गुण-धर्म का पालन करते हुए अपनी अलग पहचान बनाए रखता है, वैसे ही वे ऋषि करोड़ों-अरबों मनुष्यों से भरे इस संसार-वन में अपनी पहचान अपने ढंग से बनाए हुए थे। समय बलवान होता है, समय का बल देवबल के समान होता है, यह विचार उनके हृदय में गहरे तक भरा हुआ था। इसलिए उन्होंने अपने जीवन को नियमित बना लिया था और अपने नियमित कर्म में लगे रहते थे। वैसे वे पारिवारिक मनुष्य थे, पर परिवार में पत्नी के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था।

जैसे दिन के भीतर रात भी दिन का ही अंश होती है, वैसे ही उन ऋषि के जीवन में रात भी दिन जैसी थी। वे रात को केवल रात नहीं समझते थे, बल्कि दिन की तरह रात का भी उपयोग करते थे। उनकी पत्नी गृहलक्ष्मी जैसी सुयोग्य थीं, इसलिए परिवार की जितनी चिन्ता दूसरे लोगों को रहती है, उतनी चिन्ता उन्हें नहीं रहती थी। उनका मन इस सीमा तक पहुँच चुका था कि मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं है। यहाँ मनुष्य से आशय पुरुष और स्त्री के साथ-साथ जाति और सम्प्रदाय में विभाजित सभी मनुष्यों से है।

जंगल में, अर्थात जीवन में, जैसे लाखों-करोड़ों रंग और किस्म के वृक्ष अपनी डालियों, पत्तों, फूलों और फलों से अपनी पहचान बनाते हैं,

अपने गुण-धर्म से एक-दूसरे से अलग दिखाई देते हैं, और देखने-समझने वाला सहज ही समझ जाता है कि अमुक वृक्ष अमुक फूल या फल का है, इसलिए उसका नाम भी दूसरे वृक्षों से भिन्न माना जाता है, वैसे ही वे ऋषि भी अपने जीवन को पहचानकर, अपना कर्म निर्धारित कर, उसी में लगे रहते थे।

अपने कर्म के अनुसार वे निरन्तर कर्मरत रहते थे। जिस वन में वे रहते थे, उसी वन में एक भूत भी रहता था। जब ऋषि स्नान-ध्यान में लगते, तब वह भूत स्थान को सूना देखकर, अर्थात ऋषि को वहाँ न पाकर, आ जाता। ऋषि के जितने शास्त्र-पुराण और पोथी-पत्र थे, उन्हें आसन से उठा लेता और जहाँ-तहाँ फेंक देता। जब ऋषि लौटकर देखते, तो पाते कि एक भी पोथी-पत्र अपनी जगह पर नहीं है।

पोथी-पत्रों को अपनी जगह पर न देखकर ऋषि कुटी से बाहर निकलते और चारों ओर देखते। जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े पोथी-पत्रों को वे एक-एक कर चुनते, समेटकर लाते और फिर उसी स्थान पर रख देते जहाँ प्रतिदिन रखा करते थे। यह लीला एक दिन की नहीं थी, प्रतिदिन की थी। अन्त में तंग आकर उन्होंने उस भूत को बुलाया और पूछा-

"तुम प्रतिदिन ऐसा उपद्रव क्यों करते हो?"

सुशान्त ऋषि के पूछते ही कुकान्त नाम का भूत बोला-

"आप दिन-रात अपने काम में लगे रहते हैं। मेरे पास कोई काम नहीं है। तब मैं क्या करूँ?"

भूत की बात सुनकर सुशान्त ऋषि ने मन-ही-मन विचार किया कि मैं तो जीवात्मा-स्वरूप हूँ, इसलिए जीवन को देख-समझकर अपने कर्म में लगा रहता हूँ। पर यह तो भूत है, जिसका जीवन ही खो गया है। अच्छा होगा कि इसे जीवन का कोई ऐसा कर्म दिखाकर, ऐसा भार दे दिया जाए कि न वह कर्म पूरा हो और न इसके पास उपद्रव करने का

समय बचे। यही सोचकर ऋषि ने मन में निश्चय किया कि जब तक इसके मन में कर्म का भूत नहीं लगा दूँगा, तब तक यह चैन से जीने नहीं देगा।

ऋषि ने भूत से कहा-

"सुनो, तुम मेरे पड़ोसी हो। तुम्हारी करतूत देखकर मेरे मन में भी दुख होता है। इसलिए मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ। क्या तुम उसे करोगे?"

ऋषि की बात सुनकर भूत बोला-

"मैं भी तो यही चाहता हूँ।"

दाहिने हाथ की उँगली से इशारा करते हुए, कुटी से थोड़ी दूर खड़े आम के पेड़ को दिखाकर सुशान्त ऋषि ने कहा-

"अभी से तैयार हो जाओ। जाओ, उस पेड़ पर चढ़ो। सबसे ऊपरी डाल तक पहुँचो। फिर वहाँ से उतरकर धरती पर आओ। फिर चढ़ो, फिर उतरो। दिन-रात के लिए मैंने तुम्हें भी काम बता दिया।"

मन-ही-मन ऋषि ने विचार कर लिया था कि जीवन का वृक्ष ऐसा वृक्ष है जिस पर कितने भी लोग चढ़ें, उसका अन्त नहीं होता। जीवन तो जीवन है। जैसे परिवार में कोई रसोइया परिवार की आवश्यकता के अनुसार मछली के टुकड़े करता है, उसमें पानी डालकर झोर बनाता है और लोग खाकर तृप्त होते हैं, वैसे ही जीवन का कर्म भी है। कर्म ही मनुष्य को तृप्ति देता है। इसलिए आवश्यकता है कि कर्म का भूत अपने विचार में लगाया जाए। ❑

आत्मविश्वास

☰

विश्वास अपने आप में मनुष्य का बड़ा गुण है। पर यह गुण मनुष्य के भीतर जागे कैसे? सभी जानते हैं कि दुनिया कितनी बड़ी है और उसमें कितने लोग हैं। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिक्षण कोई मनुष्य जन्म लेता है, इस धरती पर आता है, और कोई मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात इस धरती से चला जाता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यों की संख्या का सही-सही हिसाब कैसे दिया जा सकता है? अधिक-से-अधिक इतना ही हो सकता है कि दुनिया अनेक देशों में विभाजित है, इसलिए अलग-अलग देशों की जनसंख्या के आधार पर एक अनुमान लगाया जाए और उसी से दुनिया के मनुष्यों की संख्या समझी जाए। वैसे, एक पुरानी कहावत है कि प्रतिदिन एक लाख मनुष्यों की मृत्यु होती है और सवा लाख मनुष्यों का जन्म होता है, पर ऐसी कहावत का कोई ठोस आधार नहीं। मृत्यु के रूप भी अनेक हैं। अनेक प्राकृतिक प्रकोप ऐसे होते हैं जिनमें लाखों लोगों की मृत्यु हो जाती है। उसके साथ असंख्य रोग-व्याधियाँ हैं, जिनसे आक्रान्त होकर भी मनुष्य मरता रहता है। आज का वैज्ञानिक युग भी विचित्र है। एक ओर जीवन की रक्षा के अनेक उपाय बने हैं, तो दूसरी ओर ऐसे-ऐसे संहारक साधन भी बन गए हैं जिनसे व्यापक विनाश होता है। जो भी हो, वह व्यापक संसार की बात है। असली प्रश्न यह है कि प्रत्येक मनुष्य में आत्मविश्वास कैसे जागे।

हरेकृष्ण के मन में यह विचार बराबर उठता रहता था कि उनका अपना आत्मविश्वास कैसे जागे। प्रश्न तो मन में उठ जाता था, पर उत्तर नहीं मिलता था कि अपने भीतर आत्मविश्वास जगाया कैसे जाए। उत्तर मिलता भी कैसे? सीमित शिक्षा, सामान्य जीवन और सामाजिक अनुभव की कमी के कारण उनमें अपने ऊपर विश्वास नहीं जाग पाता था। वे साधारण पढ़े-लिखे थे, जीवन भी साधारण था, इसलिए अपने विचार और निर्णय पर भरोसा करने की शक्ति अभी उनके भीतर पूरी तरह विकसित नहीं हो पाई थी।

दरवाजे पर अकेले बैठे हरेकृष्ण मन-ही-मन सोच रहे थे कि यह आदत केवल आज की नहीं है; बचपन से ही बन गई है कि जो भी काम करता हूँ, जो भी निर्णय लेता हूँ, वह लोगों की, यानी समाज के लोगों की, देखा-देखी करता हूँ। जैसे-जैसे समाज के लोगों को करते देखता हूँ, वैसे-वैसे स्वयं भी कर लेता हूँ। पर अब तक कभी मन में यह विश्वास नहीं जागा कि मैं जो कर रहा हूँ, वह अपने विवेक से कर रहा हूँ, समाज की देखा-देखी से अलग होकर कर रहा हूँ। लोगों को जैसा करते देखता हूँ, वैसा ही अपने जीवन में उतार लेता हूँ। लेकिन कर्म का फल कभी अच्छा होता है और कभी बुरा भी हो जाता है। यह विचार मन में आज ही नहीं, बहुत दिनों से उठता रहा है। होना तो यह चाहिए कि जब मनुष्य योनि में जन्म लिया है और मनुष्य विवेकशील प्राणी माना जाता है, तब कर्म का फल हमेशा अच्छा ही क्यों न हो? बुरा क्यों हो जाता है? सावन की वर्षा के पानी में उठते बुलबुले की तरह हरेकृष्ण के मन में विचार अपने आप उठते भी थे और अपने आप फूट भी जाते थे। अन्ततः हरेकृष्ण ने सोचा कि जिस प्रश्न का उत्तर मैं स्वयं नहीं सोच पाता, उसे दूसरे से क्यों न समझ लूँ। फिर अपने ही मन में दूसरा विचार उठा कि जैसे मैं स्वयं नहीं समझ पाता, वैसे यदि दूसरा भी न समझता हो और प्रश्न सुनकर कोई भी उत्तर दे दे, तब भी तो वही बात होगी। जैसे अपने मन से किए हुए

काम का फल अच्छा भी होता है और बुरा भी, वैसे ही दूसरे के कहे पर किए गए काम का फल भी अच्छा या बुरा हो सकता है। लोगों की भी ऐसी धारणा बनी हुई है कि यदि उनसे कुछ पूछा जाए, तो वे कुछ-न-कुछ उत्तर अवश्य देंगे। वह उत्तर सुनने में अच्छा लगेगा, पर जब उसके अनुसार, यानी दूसरे के विचार के अनुसार, काम करूँगा, तब भी परिणाम वही होगा; अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी।

सोच-विचार में पड़े हरेकृष्ण के मन में यह विश्वास नहीं आ पा रहा था कि अपने विचार के अनुसार किया गया काम शत-प्रतिशत अच्छा ही होगा। उलझन में पड़े उनके मन में विचार उठा कि अच्छा होगा यदि एक ही प्रश्न एक ही व्यक्ति से न पूछकर दूसरे, तीसरे और चौथे व्यक्ति से भी पूछा जाए। तब या तो एक ही तरह का उत्तर मिलेगा या अलग-अलग उत्तर मिलेंगे। यदि एक-सा उत्तर मिलेगा, तब उस पर अधिक विश्वास किया जा सकेगा। और यदि अलग-अलग उत्तर मिलेंगे, तब उन उत्तरों को अपने भीतर परखते-तौलते हुए, खण्डन-मण्डन करते हुए, किसी एक निर्णय तक पहुँचा जा सकेगा। वैसे, जब उस विचार को क्रिया के रूप में उतारा जाएगा, तब उसका अच्छा-बुरा परिणाम सामने आएगा ही। जब परिणाम सामने आएगा, तब जो उचित सिद्ध होगा, उसे स्वीकार कर लिया जाएगा; और जो उचित सिद्ध नहीं होगा, उसमें कहाँ से और कैसे गड़बड़ी हुई, उसे समझकर सुधार लिया जाएगा।

विचार करते-करते हरेकृष्ण का मन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक किसी प्रश्न को, अर्थात किसी काम से जुड़े विचार को, दूसरे से पूछकर समझ नहीं लिया जाएगा, तब तक वह केवल अपना ही विचार बना रहेगा। उससे अच्छा भी हो सकता है और बुरा तो हो ही सकता है। एकाएक हरेकृष्ण के मन को जैसे राहत मिली। राहत मिलते ही मन में विचार आया कि कार्यानन्द काका गाँव के लोगों की दृष्टि में भी और अपनी दृष्टि में भी, अपने जीवन-आचरण के कारण समाज के सबसे

अच्छे व्यक्ति हैं। क्यों न उनके यहाँ जाकर अपनी सारी बातें, अपने सारे प्रश्न उनके सामने रखे जाएँ और उनके उत्तर के अनुसार काम किया जाए। इससे भूल की सम्भावना कम हो जाएगी। हरेकृष्ण के भीतर के मन ने मान लिया कि कार्यानन्द काका से पूछने के बाद ही वे कुछ करेंगे।

संयोग ऐसा बना कि कार्यानन्द काका परिवार के काम से हाट जा रहे थे। रास्ते से उन्हें आते देखकर हरेकृष्ण दरवाजे से उठे और सड़क पर आकर खड़े हो गए। जब कार्यानन्द काका कुछ ही दूरी पर पहुँचे, तो हरेकृष्ण ने आगे बढ़कर कहा-

"काका, प्रणाम।"

कार्यानन्द काका की दृष्टि में हरेकृष्ण अनजान नहीं थे। आशीर्वाद देते हुए वे बोले-

"सुखी रहो, हरेकृष्ण। परिवार का क्या हाल-चाल है?"

हरेकृष्ण बोले-

"परिवार का क्या हाल कहूँ, काका। मन में हमेशा यही रहता है कि परिवार कैसे अच्छा बने और ठीक से चले, पर जितना उसे अच्छा चलाने का विचार मन में रहता है, उससे अधिक उलटा ही हो जाता है।"

हरेकृष्ण की बात सुनकर कार्यानन्द काका के मन में थोड़ा सुख भी हुआ और थोड़ा दुख भी। सुख इसलिए हुआ कि दूसरों की तरह हरेकृष्ण ने अपने परिवार की झूठी बड़ाई नहीं की थी। दुख इसलिए हुआ कि जब किसी व्यक्ति के परिवार की स्थिति ही बिगड़ जाए, तब उस परिवार में शान्ति कैसे आएगी? और जब शान्ति ही नहीं आएगी, तब वह परिवार चैन से कैसे चलेगा? कार्यानन्द काका बोले-

"ऐसा क्या, हरेकृष्ण?"

हरेकृष्ण बोले-

"काका, सोचता हूँ कुछ और, हो जाता है कुछ और।"

कार्यानन्द काका बोले-

"यह परिवार की बात है, विचार-विमर्श का विषय है। इसलिए खड़े-खड़े इस पर बात करना सम्भव नहीं। अभी मैं भी परिवार के काम से हाट जा रहा हूँ। वहाँ से लौटने के बाद साँझ के समय निश्चिन्त होकर बातचीत करेंगे।"

हरेकृष्ण के मन की जिज्ञासा इतनी तीव्र हो गई थी कि उन्हें लग रहा था, कब सही उत्तर मिले और वे सही रास्ता पकड़कर आगे बढ़ें। तब शायद उनके सारे काम ठीक होने लगेंगे। हरेकृष्ण बोले-

"काका, मैं भी आपके साथ हाट चलूँगा। हाट पहुँचने के बाद आप हाट का काम करेंगे, पर जाते समय और लौटते समय रास्ते में तो कोई काम नहीं रहेगा। उसी बीच हम दोनों बातचीत कर ही सकते हैं।"

हरेकृष्ण की बात कार्यानन्द काका को ठीक लगी। ऐसा सम्भव तो था ही। पर यदि इस समय हरेकृष्ण को कोई पारिवारिक काम हो, तो उसके न होने से वह काम अवश्य अटक जाएगा। फिर तुरन्त ही उनके मन में यह भी आया कि जब हरेकृष्ण स्वयं चलने को तैयार हैं, तब उन्हें रोकना भी उचित नहीं होगा। कार्यानन्द काका बोले-

"हरेकृष्ण, यदि तुम्हें फुर्सत हो, तब चल सकते हो। पर यदि अभी जाने से कोई काम रुक जाएगा, तो क्यों जाओगे? कह ही चुका हूँ कि साँझ के समय निश्चिन्त होकर हम दोनों एक जगह बैठेंगे और तुम्हारे जो-जो प्रश्न होंगे, उनका उत्तर दूँगा।"

हरेकृष्ण बोले-

"काका, मन इतना उद्विग्न हो गया है कि किसी काम की ओर ध्यान ही नहीं जा रहा।"

कार्यानन्द काका बोले-

"तब चलो।"

दोनों साथ-साथ चल पड़े। कुछ कदम आगे बढ़ने पर हरेकृष्ण बोले- "काका, करता हूँ कुछ और, हो जाता है कुछ और। मन में यह सोचकर काम करता हूँ कि परिवार में इसकी जरूरत है, पर काम बिगड़ जाने से जरूरत तो पूरी होती ही नहीं, उलटे समस्या और बढ़ जाती है।"

हरेकृष्ण की बात सुनकर कार्यानन्द काका के मन ने मान लिया कि ऐसा केवल हरेकृष्ण के साथ ही नहीं, बहुत लोगों के साथ होता है। वे देखते ही थे कि लोग दिन भर काम करते हैं, फिर भी फल बुरा ही मिलता है। कार्यानन्द काका बोले- "हरेकृष्ण, सबसे पहले कोई काम शुरू करने से पहले मन को स्थिर कर विचार कर लेना चाहिए कि आज क्या-क्या करना है। मतलब, आज कौन-कौन से काम सामने हैं। उसके बाद यह तय करना चाहिए कि कौन-सा काम पहले करना है और कौन-सा बाद में। काम तो काम ही है, हर काम का अपना महत्त्व होता है। पर यह देखना जरूरी है कि कौन-सा काम करने का अनुकूल समय अभी है और कौन-सा काम बाद में करने से कोई हानि नहीं होगी। उसी के अनुसार काम करना चाहिए।"

कार्यानन्द काका की बात सुनकर हरेकृष्ण ने मन-ही-मन विचार किया, तो उन्हें लगा कि इस बात में वे सचमुच चूक जाते हैं। न समय का ठिकाना रहता है, न काम का। इसलिए जिस काम को वे समझते भी हैं, यानी जिसे करने का हुनर जानते हैं, वह काम भी सही समय न पाने के कारण बुरा फल दे बैठता है। एक बात यह भी होती है कि कई बार काम ही काम को मार देता है। जिसकी तत्काल जरूरत नहीं रहती, उसे कर लेते हैं और जिसकी जरूरत रहती है, वह छूट जाता है। हरेकृष्ण बोले-

"यह कैसे करूँ, काका?"

कार्यानन्द काका बोले- "हरेकृष्ण, जो काम सामने आए, उसे प्राथमिकता के हिसाब से करना सीखो। इसके लिए भीतर की शक्ति, यानी आत्मशक्ति और विचारशक्ति को जगाना होगा। शरीर के भीतर

क्रियाशील मणिपुर चक्र को पहले जागृत करना होगा। यदि वह जाग गया, तब तुम्हें लगेगा कि दुनिया में कोई ऐसा काम नहीं है जिसे मनुष्य नहीं कर सकता। जब ऐसी शक्ति का संचार मन में हो जाएगा, तब काम करने की शक्ति इतनी बढ़ जाएगी कि लगेगा, खाना-पीना और सोना तक छोड़कर केवल काम में लग जाओ। काम ही जीवन है। जैसा करोगे, जितना करोगे, वैसा ही जीवन भी बनेगा।"

बातचीत करते-करते दोनों हाट पहुँच गए। इसलिए बातचीत छोड़कर कार्यानन्द काका अपना हाट का काम करने लगे। जिन-जिन वस्तुओं को उन्हें खरीदना था, उन सबका मन-ही-मन हिसाब बैठाकर वे खरीदने लगे। किसी वस्तु को खरीदने में उस खरीदार को अधिक समय लगता है जो वस्तु का दाम, उसका मूल्य नहीं समझता और दाम को लेकर बहुत मोल-भाव करता है। पर उस खरीदार को अधिक समय क्यों लगेगा जो अनावश्यक मोल-भाव नहीं करता? हाँ, यदि किसी वस्तु के मूल्य को लेकर शंका हो कि दुकानदार अधिक दाम कहकर उचित से अधिक माँग रहा है, तब यही ठीक है कि उस वस्तु का दाम दूसरे दुकानदारों से भी पूछ लिया जाए। यदि वस्तु का दाम सब जगह लगभग एक-सा लगे, तब मन मान ही जाता है कि अमुक वस्तु का यही चलता दाम है, अर्थात उसका मूल्य समय के अनुकूल है। कार्यानन्द काका को चार-पाँच ही वस्तुएँ खरीदनी थीं, इसलिए अधिक समय नहीं लगा। हरेकृष्ण चुपचाप कार्यानन्द काका का व्यवहार देख भी रहे थे और मन-ही-मन सोच भी रहे थे कि इतनी ही वस्तुएँ खरीदने में उन्हें इससे दो-तीन गुना समय लग जाता। जितने समय में कार्यानन्द काका ने सामान खरीद लिया, उससे दो-तीन गुना समय वे स्वयं लगा देते। इससे समय भी अधिक नष्ट होता और काम उतना ही होता जितना कम समय में भी हो सकता था।

झोले में सब वस्तुएँ खरीदकर रख लेने के बाद कार्यानन्द काका

ने हरेकृष्ण से कहा- "हरेकृष्ण, हाट का काम पूरा हो गया। अब चलो।"

आगे-आगे कार्यानन्द काका और पीछे-पीछे हरेकृष्ण चल पड़े। हाट से निकलते ही हरेकृष्ण ने कार्यानन्द काका से कहा-

"काका, झोला दे दीजिए, मैं लेकर चलता हूँ।"

कार्यानन्द काका बोले-

"हरेकृष्ण, यदि झोले में रखी वस्तुएँ भारी होतीं, तब दे भी सकता था। पर जब ऐसा नहीं है, तब मैं स्वयं क्यों न लेकर चलूँ? हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि जो काम अपने हाथ से हो सकता है, उसे अपने ही हाथ से करना चाहिए। इससे काम करने का अभ्यास हमेशा बना रहता है। यदि ऐसा नहीं करोगे और दूसरों के हाथ से अपना काम कराओगे, तब एक दिन ऐसा समय आएगा जब काम करने की अपनी शक्ति ही धीरे-धीरे छिन जाएगी।"

कार्यानन्द काका की बात सुनकर हरेकृष्ण मन-ही-मन विचारने लगे। उन्हें लगा कि ऐसी कमी उनमें भी है, पर बोले कुछ नहीं। तब तक दोनों हाट से बाहर निकल चुके थे। कार्यानन्द काका बोले-

"हरेकृष्ण, मन में जब अपने प्रति विश्वास जागता है, तब मनुष्य अभय हो जाता है। अभय होना, अर्थात भय से मुक्त होना, हर मनुष्य के लिए आवश्यक है। मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार के डर इस तरह भरे रहते हैं कि वह अभय नहीं हो पाता।"

बीच में हरेकृष्ण बोले-

"ऐसा डर मनुष्य के भीतर क्यों भरा रहता है?"

कार्यानन्द काका बोले-

"एक तो सामाजिक परिवेश ऐसा बना हुआ है जिससे लोग हर समय डरे रहते हैं। दूसरे, अपने पुराने संस्कार भी जीवन में बड़ा कारण बने रहते हैं।"

हरेकृष्ण बोले- “तब?”

कार्यानन्द काका बोले- “अभावग्रस्त लोगों की सेवा और सहायता करने से मनुष्य के मन में प्रेम जागता है। जैसे ही मनुष्य के प्रति मनुष्य का प्रेम जागेगा, वैसे ही एक-दूसरे के बीच सेवा का विचार भी जागेगा। और जैसे ही सेवा का विचार जागेगा, लोग एक-दूसरे का सहयोग करने लगेंगे। इससे सबका कल्याण होगा और एक-दूसरे के बीच जो कटुता है, वह भी मिटेगी। जब मनुष्यों के बीच की कटुता मिटेगी, तभी अपने जीवन की सुरक्षा को लेकर जो शंका भीतर बैठी रहती है, वह भी धीरे-धीरे मिट जाएगी।”

बातचीत करते-करते दोनों घर के निकट पहुँच गए। घर के निकट पहुँचते ही हरेकृष्ण बोले-

“काका, लगता है जैसे मन का कुहासा छँट रहा है।” ❑

शिष्टाचार

☰

एक कहावत है कि जहाँ पैसा होता है, वहाँ नाच-तमाशा अधिक होता है। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि जहाँ कवि-साहित्यकार अधिक हों, वहाँ नाच-गान नहीं होता। वह भी होता है। आदिकाल से मिथिला की भूमि कवि-साहित्यकारों को जन्म देती रही है, आज भी दे रही है और भविष्य में भी देती रहेगी। प्राचीन मिथिला एक निश्चित भू-सीमा के भीतर मानी जाती थी, और थी भी; पर आज उसका सांस्कृतिक विस्तार बहुत दूर तक फैल चुका है। भारत देश की ही क्या बात, मैथिल, अर्थात मिथिला के रहने वाले, नौकरी-चाकरी और जीवन-व्यवहार के कारण देश के कोने-कोने में फैल गए हैं और दूसरे देशों तक भी पहुँच गए हैं। जब एक ही मिट्टी-पानी के लोग किसी एक जगह जुटते हैं, तब वे अपनी भाषा, साहित्य, संस्कृति और अपने व्यवहार को स्थापित करने का प्रयास करते ही हैं।

दिल्ली में मैथिल समाज ने भाषा-साहित्य का एक कार्यक्रम आयोजित किया। तीन दिनों का कार्यक्रम बनाया गया। इसमें दिल्ली में रहने वाले स्थानीय मैथिली साहित्यकारों के साथ-साथ मिथिला के मैथिली साहित्यकारों को भी आमंत्रित किया गया। उसी कार्यक्रम में रामसेवक भाई को भी निमंत्रण मिला। रामसेवक भाई गीतकार या गायक नहीं थे, पर कहानी, उपन्यास और कविता की रचना करने के कारण कथाकार, उपन्यासकार और कवि तो माने ही जाते थे। दिल्ली

आने-जाने का ट्रेन टिकट भी कार्यक्रम से पाँच दिन पहले भेज दिया गया था। एक ओर साहित्यिक कार्यक्रम का आकर्षण था, दूसरी ओर भाषा-साहित्य की उन्नति देखने का उत्साह। रामसेवक भाई ने प्रसन्न मन से कार्यक्रम में भाग लेने का निर्णय कर लिया। संयोग भी अच्छा मिला। उनके साथ जाने वाले एक साथी का टिकट भी आ गया था। कार्यक्रम से एक दिन पहले दिल्ली पहुँचने का टिकट था और कार्यक्रम समाप्त होने के एक दिन बाद वापसी का।

रेल विभाग में पहले की अपेक्षा कुछ सुधार तो हुआ ही है। जहाँ पहले दिल्ली जाने के लिए तीन-चार जगह ट्रेन बदलनी पड़ती थी, वहाँ अब एक ही ट्रेन में बैठकर दिल्ली पहुँचना आसान हो गया है। दिल्ली के साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम से पाँच घंटे पहले रामसेवक भाई दिल्ली पहुँच गए। उम्रदराज होने के कारण थकान बढ़ ही गई थी, क्योंकि चौबीस-पच्चीस घंटे रेल-यात्रा में लग गए थे। पर मन का उत्साह इतना अधिक था कि उन्होंने थकान को थकान नहीं समझा।

कार्यक्रम के व्यवस्थापकों ने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि किसी को किसी तरह की असुविधा न हो। दिल्ली के कार्यक्रम-स्थल पर पहुँचकर रामसेवक भाई ने पहले स्नान किया। एक तो वैसे भी स्नान करने के बाद थकान कम हो जाती है, उस पर नए-नए लोगों से और कुछ ऐसे लोगों से, जिनसे दस-बीस वर्षों के बाद भेंट हुई थी, मिलते ही मन की थकान पूरी तरह मिट गई।

तीन दिनों का कार्यक्रम छह सत्रों में विभाजित था। प्रत्येक दिन दो-दो सत्र रखे गए थे। पहले दिन पहले सत्र में 'मिथिला का इतिहास' और दूसरे सत्र में 'मिथिला की भौगोलिक बनावट' विषय था। दूसरे दिन 'मिथिला का जीवन-दर्शन' और 'मिथिला का समाज' विषय रखे गए थे। तीसरे दिन 'मिथिला की कला' और 'मिथिला का सांस्कृतिक नाच-गान' विषय थे।

रामसेवक भाई से मिलने अनेक सगे-सम्बन्धियों के साथ-साथ अपने अड़ोस-पड़ोस के भी अनेक लोग आए थे। वे लोग घंटों बैठकर रामसेवक भाई के साथ रहे।

कार्यक्रम के अनुसार रामसेवक भाई सभी सत्रों में उपस्थित रहे। कार्यक्रम अच्छा हुआ और मैथिल समाज के लोग आपस में विचार करने लगे कि हम लोग हर साल इसी तरह का कार्यक्रम करेंगे।

कार्यक्रम समाप्त होने के बाद रामसेवक भाई ने गाँव लौटने की ट्रेन पकड़ ली। निश्चित समय पर वे गाँव आ गए।

कार्यक्रम के आठ दिन बाद रामसेवक भाई को उनके समधौत ने दिल्ली से फोन किया। समधौत, यानी भतीजे का साला, सुकदेव। सुकदेव की बहन के साथ रामसेवक भाई के भतीजे रामखेलावन का विवाह हुआ था। इस तरह सुकदेव की बहन रामसेवक भाई की भतीजा-पतोहू हुई। सुकदेव कार्यक्रम में उपस्थित नहीं हुआ था।

पन्द्रह वर्ष पहले सुकदेव दिल्ली गया था। पढ़ाई-लिखाई बहुत कम थी। बस अपना नाम और गाँव लिख लेता था। पर शरीर से हृष्ट-पुष्ट था और काम में भी चुस्त। उसने ड्राइवरी सीखी थी। गाँव से जाने के बाद सुकदेव एक व्यापारी के यहाँ गाड़ी चलाने लगा। उस व्यापारी के पास कई गाड़ियाँ थीं। होता भी ऐसा ही है कि पैसेवाले लोगों को अलग-अलग व्यक्तियों और कारोबारों के लिए कई-कई गाड़ियाँ रखनी पड़ती हैं। उस सेठ के अपने उपयोग की जो गाड़ी थी, नौकरी शुरू करने के छह महीने बाद, अच्छा चालक होने के कारण सुकदेव उसी गाड़ी का ड्राइवर बन गया। मालिक का, अर्थात परिवार के मुखिया का ड्राइवर होने से सुकदेव का मान-सम्मान दूसरे ड्राइवरों से अधिक हो गया। सेठ धनवान आदमी था ही। इससे सुकदेव की आमदनी भी अन्य ड्राइवरों से अधिक हो गई।

एक तो वैसे भी ऐसा चलन बन गया है कि जो लोग गाँव से दिल्ली या दूसरे शहरों में नौकरी करने गए हैं, उनमें सबके लिए तो नहीं कहा जा

सकता, पर अधिकांश लोगों ने वहाँ या तो मकान खरीद लिया है या बनवा लिया है। सुकदेव ने भी एक कट्ठा जमीन खरीदकर अपना दोमंजिला मकान बना लिया था।

रामसेवक भाई जब कार्यक्रम से लौटकर गाँव आ गए, उसके आठ दिन बाद सुकदेव ने फोन किया। मोबाइल का युग आ ही गया था। व्यक्ति-व्यक्ति के पास मोबाइल हो गया था। संयोग ऐसा हुआ कि रामसेवक भाई का मोबाइल नम्बर न जानने के कारण सुकदेव ने उनके भतीजे के नम्बर पर फोन किया। भतीजा, यानी रामखेलावन, उस समय घर पर नहीं था, मधुबनी गया हुआ था। इसलिए रामखेलावन ने सुकदेव से कहा-

“अभी मैं मधुबनी में हूँ। यदि कहें, तो चाचाजी का मोबाइल नम्बर दे देता हूँ, नहीं तो जब घर जाऊँगा, तब उनसे आपकी बात करा दूँगा।”

नए-नए उठे हुए आदमी में अकड़ और उत्साह दोनों बढ़ ही जाते हैं। उसी उत्साह में सुकदेव ने रामखेलावन से कह दिया- “रामसेवक काका दिल्ली आए थे और उन्होंने मुझसे भेंट नहीं की!”

सुकदेव की बात सुनकर रामखेलावन कुछ नहीं बोला। उसने मोबाइल बन्द किया और अपने काम में लग गया। शाम को रामखेलावन मधुबनी से लौटकर घर आया। दिन भर का थका हुआ था, इसलिए पहले नहाया और जलपान करने बैठ गया। जलपान के बाद जब मन कुछ स्थिर हुआ, तब उसने सोचा कि अब चाचाजी को सुकदेव का समाचार सुना दूँ। उसने वही किया।

रामसेवक भाई दरवाजे पर बैठे अनूपलाल से दिल्ली के कार्यक्रम की बातें कर रहे थे। रामखेलावन को देखते ही उन्होंने पूछा-

“कोर्ट का काम हो गया कि नहीं?”

रामखेलावन बोला- “हाँ।”

रामखेलावन के मुँह से 'हाँ' सुनकर रामसेवक भाई ने आगे कुछ नहीं पूछा और फिर अनूपलाल से बातचीत करने लगे। इसी बीच रामखेलावन बोला-

"चाचाजी, जब मैं कोर्ट का काम कर रहा था, तब सुकदेव ने फोन पर कहा कि रामसेवक चाचा दिल्ली आए और मुझसे भेंट नहीं की।"

रामखेलावन के मुँह से सुकदेव का समाचार सुनते ही रामसेवक भाई के भीतर जैसे आग भर गई। क्रोध इतना उग्र रूप में चढ़ गया कि यदि सुकदेव सामने होता, तो वे न जाने क्या कर बैठते। पर सामने न होने के कारण, जैसे समुद्र-मंथन के बाद महादेव ने विष पी लिया था, वैसे ही रामसेवक भाई ने क्रोध का विष मन-ही-मन पी लिया। फिर भी जैसे विष की जलन भीतर फैलती है, वैसे ही उनके मन में क्रोध की धधक बनी रही। रामसेवक भाई ने अनूपलाल से कहा-

"अनूप, लोग भी एक-से-एक निर्लज्ज होते हैं!"

अनूपलाल को कुछ समझ में आता, तभी तो वे कुछ बोलते। उन्हें बात समझ में आई ही नहीं थी, इसलिए जिज्ञासा से बोले-

"क्या हुआ, भाई?"

रामसेवक भाई के मन में क्रोध की असीम ज्वाला धधक रही थी, पर जिस पर वह ज्वाला चढ़ी थी, उसे सामने न पाकर उन्होंने अपने मन की आग मन में ही दबा ली। वे बोले-

"अनूप, जिसके विषय में रामखेलावन ने कहा- उसे तुम शायद नहीं पहचानते होगे। इसलिए पहले उसका परिचय दे देता हूँ। वह, यानी सुकदेव, रामखेलावन का साला है। पढ़ाई-लिखाई में लगभग शून्य है। बस अपना नाम और गाँव लिख लेता है। गाँव में इधर-उधर भटकता फिरता था। अपने ममेरे भाई के साथ दिल्ली गया। ममेरे भाई ने अपने खर्च से उसे ड्राइवरी, यानी गाड़ी चलाना, सिखा दिया। अब वह एक बड़े

व्यापारी के यहाँ ड्राइवरी करता है। देखते ही हो कि समय कैसा हो गया है। जिस चोरी-बेईमानी को लोग पाप समझते थे और आज भी समझते हैं, वही अब जैसे धर्म बन बैठी है। कोई भी इस पाप से पूरी तरह अछूता नहीं बचा। उसी धर्म के बल पर, यानी अधर्म के बल पर, सुकदेव ने दिल्ली में अपना दोमंजिला मकान बना लिया है। दस कमरों का मकान है। एक कमरे में पति-पत्नी स्वयं रहते हैं और बाकी सब किराये पर लगा रखा है, जिससे पच्चीस-तीस हजार रुपये महीना आमदनी हो जाती है। पैसे की अच्छी आमदनी हो गई है। मतलब यह कि पहली आमदनी नौकरी की तनख्वाह, दूसरी ऊपरी कमाई और तीसरी घर के किराये की आमदनी। जिस परिवार ने जीवन भर अभाव की जिन्दगी, यानी गरीबी में पलकर दिन काटे हों, उस परिवार में जब पैसे की आमदनी होगी, तो मन उलटेगा ही। वही सुकदेव के साथ भी हुआ है।"

बोलते-बोलते रामसेवक भाई ने अनूपलाल को सारी बात कह दी, पर मन में जो ताप चढ़ गया था, वह वैसा ही भीतर बना रहा। उन्होंने रामखेलावन से कहा-

"बेटा, जरा सुकदेव को फोन लगाओ तो।"

रामसेवक भाई के कहते ही रामखेलावन ने सुकदेव को फोन लगाया और बोला-

"घर आ गया हूँ। चाचाजी से बात करो।"

सुकदेव को मालूम होता, तब न। उसे कहाँ मालूम था कि उसकी बात सुनकर चाचाजी आग-अंगार हो गए हैं। वह बोला-

"चाचाजी, आप दिल्ली आए और हमारे यहाँ नहीं आए!"

सुकदेव के इतना कहते ही रामसेवक भाई ने उत्तर दिया-

"बेटा, जानते हो शिष्टाचार किसे कहते हैं?"

यदि सुकदेव पढ़ा-लिखा होता, संस्कार और व्यवहार की समझ

होती, तब शिष्टाचार के सम्बन्ध में कुछ कहता। पर वह चुप रह गया। जैसे चोरी पकड़े जाने पर उस घर के गृहस्वामी के भीतर आग लग जाती है, जिसके घर चोरी हुई हो, वैसा ही रामसेवक भाई के साथ भी हुआ। एक तो पहले से ही सुकदेव पर क्रोध चढ़ा हुआ था, ऊपर से फोन पर उसकी वही उलटी शिकायत सुनकर वह और भड़क गया। वे बोले-

"सुकदेव, तुम्हें अभी तक इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि समझ सको, मैं गाँव से दिल्ली किसी निजी भेंट-मुलाकात के लिए नहीं, सामाजिक कार्यक्रम में गया था। वहाँ समय निर्धारित था। समय पर पहुँचकर कार्यक्रम में भाग लेना था। ऐसी स्थिति में तुम यह कैसी बात कह रहे हो! तुम्हें इतनी भी शर्म नहीं आई कि जब मैं पहुँचा था, तो तुम्हें जानकारी रही ही होगी, क्योंकि कार्यक्रम का प्रचार-प्रसार अच्छी तरह हुआ था। ऐसे में तुम्हें स्वयं वहाँ पहुँचकर भेंट करनी चाहिए थी। यही शिष्टाचार था।"

जिसका जैसा बौद्धिक स्तर होता है, उसी के अनुसार उसका विचार और व्यवहार भी होता है। सुकदेव का जो बौद्धिक स्तर था, उसी के अनुसार वह बोला-

"चाचाजी, समय के अभाव के कारण नहीं आ पाया।"

सुकदेव की बात सुनते ही रामसेवक भाई में जैसे नरसिंह का तेज भर गया। वे बोले-

"मैं इस उम्र में गाँव से इतनी दूर जाकर कार्यक्रम में भाग लेने पहुँचा और तुम, जो पास में थे, वह भी नहीं आ पाए?"

रामसेवक भाई के मन में यह बात जाग चुकी थी कि शिष्टाचार क्या है और शिष्टाचारी मनुष्य में किस तरह का गुण आ जाता है। शिष्टाचार आने के बाद मनुष्य में देवत्व की शक्ति-सी आ जाती है। पर वे यह बात इसलिए नहीं बोले कि भैंस के आगे वीणा बजाने से जो होता

है, वही होगा।

सुकदेव बोला-

“चाचाजी, आपसे मैं क्या कहूँ। आप तो स्वयं जानते हैं कि जो दूसरे का मोहताज होता है, उसका जीवन कैसा होता है।”

सुकदेव की बात सुनकर रामसेवक भाई के मन में जो ज्वालामुखी फूट चुका था, वह परवश जीव का जीवन देखकर एकाएक शान्त हो गया। फिर भी सुकदेव की धृष्ट वाणी से मन का संताप थोड़ा-बहुत जागता ही रहा। वे बोले-

“बेटा सुकदेव, पुआल पर सोओ और सपना नौ लाख का देखो, ऐसे सपने को मन से निकाल दो। किस तरह के मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह सीखने का प्रयास करो।”

रामसेवक भाई की बात सुनकर सुकदेव के मन पर जैसे अस्सी मन पानी पड़ गया। उसकी वाणी काँपने लगी। थरथराते हुए बोला-

“चाचाजी, आपसे मैं क्या कहूँ, भूल-चूक हो गई।”

रामसेवक भाई कुछ नहीं बोले। ❑

प्रतिस्पर्द्धा

☰

आज का समय प्रतिस्पर्द्धा का समय है। जहाँ देखिए, जहाँ जाइए, प्रतिस्पर्द्धा दिखाई देती है। व्यक्ति से व्यक्ति तक, परिवार से परिवार तक, जाति से जाति तक, सम्प्रदाय से सम्प्रदाय तक, समाज से समाज तक, और देश-दुनिया तक, सभी अपनी-अपनी प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं। जैसे जीवन की गति ही अब स्पर्धा से संचालित होने लगी हो।

प्रशासनिक प्रतियोगिता परीक्षा में दो बार असफल हो चुके रामकिशोर निराश हो गए थे। दरवाजे पर अकेले बैठे वे मन-ही-मन सोच रहे थे कि या तो वे समय के अनुकूल नहीं हैं, या समय ही उनके अनुकूल नहीं। बी.ए. पास रामकिशोर यह भी सोच रहे थे कि सरकारी नौकरी की आयु-सीमा निकल गई। बची-खुची जो आशा थी, वह प्रशासनिक प्रतियोगिता परीक्षा थी, जिसमें तीन बार बैठने का अवसर मिलता था। उसमें भी वे दो बार असफल हो चुके थे। अब एक ही अवसर शेष था, और उसमें भी शायद असफल ही होंगे। यदि तीसरी बार भी असफल हो गए, तब प्रशासनिक नौकरी की जो आशा मन में थी, वह भी समाप्त हो जाएगी। तब करेंगे क्या?

वैसे परिवार में पन्द्रह बीघा जमीन अवश्य थी, पर वह भी, यानी किसानी वृत्ति, जैसे मृत्यु के कगार पर आ खड़ी हुई थी। एक तो कृषि के लिए समुचित व्यवस्था नहीं बची, उस पर पढ़े-लिखे लोगों की दृष्टि में वह उपेक्षा और उपहास का विषय बन गई थी। जो कृषि देश के आर्थिक

आधार का मुख्य स्तम्भ है, उसे किसान भी और शासन भी हीन दृष्टि से देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे क्या करेंगे?

रामकिशोर अपने जीवन से इतने निराश हो गए थे कि भविष्य की कल्पना मन से मिटती जा रही थी। न आगे की कोई आशा दिखाई दे रही थी, न अपना जीवन किसी समुचित दिशा में जाता दिख रहा था। जब रामकिशोर ने अपने ऊपर से दृष्टि उठाकर समाज की ओर मोड़ी, तब समाज का भी वैसा ही दृश्य देखा जैसा अपने भीतर था। एकाएक उनके मन में एक नया विचार जागा। जो बात वे स्वयं नहीं समझ पा रहे हैं, उसे किसी दूसरे से क्यों न समझ लें? पर जब रामकिशोर की दृष्टि दूसरों पर गई, तब मन में आया कि दूसरे लोग भी तो ऐसे ही स्वभाव के हो गए हैं कि दूसरे का भला करने के बदले, अच्छा सोचने-विचारने के बदले, बुरा ही सोचते हैं और अवसर पाकर बुरा करते भी हैं। जब समाज के लोगों का स्वभाव ऐसा हो गया है, तब उस समाज से भलाई की आशा कितनी की जा सकती है?

एकाएक रामकिशोर की दृष्टि में विचार की एक बारीकी आई। वह बारीकी यह थी कि समाज तो समूह है, पर उस समूह में सभी का स्वभाव और विचार एक जैसा थोड़े ही होता है। यह बात सत्य है कि कुछ लोग दुष्ट स्वभाव के अवश्य होते हैं, पर सभी वैसे ही होते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। दुष्ट स्वभाव के लोग हैं ही, पर इष्ट स्वभाव के लोग भी हैं। हाँ, इतनी बात जरूर है कि जो इष्ट स्वभाव के हैं, वे अपना संयमित जीवन बनाकर संयम से जीवन-यापन कर रहे हैं; और जो दुष्ट स्वभाव के हैं, वे दिन भर लोगों के बीच रहकर तरह-तरह की चाल और विचार से वातावरण को नष्ट ही कर रहे हैं।

सोचते-विचारते रामकिशोर का मन उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ उन्हें इष्ट स्वभाव के लोग दिखाई देने लगे।

एकाएक रामकिशोर की दृष्टि गौरीनाथ मास्टर साहब पर गई।

गौरीनाथ मास्टर साहब हाई स्कूल के शिक्षक थे, जो छह वर्ष पूर्व सेवानिवृत्त हो चुके थे। उन्होंने अपना परिवार इतना सुदृढ़ बना लिया था कि उनके मन में दूसरों की तरह रत्ती भर भी चिन्ता नहीं थी। जैसे परिवार का व्यवहार संयमित और सन्तुलित था, वैसे ही परिवार के सदस्यों का जीवन भी सन्तुलित था।

गौरीनाथ मास्टर साहब के विषय में सोचते-विचारते रामकिशोर इस निर्णय पर पहुँचे कि उनके यहाँ जाकर अपनी सारी बात सुना दें। सुनने के बाद वे जो विचार देंगे, उसे स्वयं भी सुनकर विचार करेंगे कि उनके विचार जीवन के लिए कितने उपयोगी हैं और कितने अनुपयोगी। वे स्वयं भी तो स्नातक हैं, इसलिए पूरी तरह उन लोगों जैसे नहीं हैं जिन्होंने कभी स्कूल-कॉलेज का मुँह तक नहीं देखा। रामकिशोर का मन मान गया कि साँझ के समय उनके यहाँ जाएँगे और अपनी सारी बात कहकर पूछेंगे कि आगे क्या करना अच्छा होगा।

जब से रामकिशोर के मन में गौरीनाथ मास्टर साहब से भेंट करने का विचार जागा, तब से वे अपने जीवन की एक-एक गुत्थी पर ध्यान देकर सोचने लगे कि कौन-कौन-सी बात उन्हें कहना समयोचित होगा।

सूर्यास्त हो गया। जीवन के अधिकांश विचार रामकिशोर के मन में जाग चुके थे। एकाएक मन में आया कि जो विचार उनके मन में जागे हैं, वे तो उनकी अपनी समझ के अनुसार, अर्थात अब तक की अपनी सोच के अनुरूप ही जागे हैं। पर जब गौरीनाथ मास्टर साहब से बातचीत शुरू होगी, तब अपनी समझ से वे जो कहेंगे, उससे कुछ विचारों का समाधान अपने-आप भी हो जाएगा और कुछ नए विचार भी उठ सकते हैं, यानी सामने नए विचार भी आ सकते हैं। परिवार में किसी से कुछ कहे बिना रामकिशोर ने अपनी पत्नी से कहा-

"मैं गौरीनाथ मास्टर साहब के यहाँ जा रहा हूँ। बातचीत के क्रम में कुछ देर भी हो सकती है, इसलिए किसी तरह की चिन्ता मत करना।"

रामकिशोर ने जैसे ही पत्नी से कहा- पत्नी भी बोली-

“अधिक देर मत कीजिएगा। रात का समय है, इसलिए समय पर आने की कोशिश कीजिएगा।”

पत्नी की बात सुनकर रामकिशोर बिना कुछ कहे दरवाजे से उठे और चल पड़े।

गौरीनाथ मास्टर साहब के तीन बेटे और दो बेटियाँ थीं। दोनों बेटियाँ अपने-अपने ससुराल में रहती थीं, पर दोनों बेटियों के दो-दो बच्चे, एक-एक बेटा और एक-एक बेटी, को गौरीनाथ अपने पास रखकर पढ़ा रहे थे। चारों बच्चे हाई स्कूल में पढ़ रहे थे। बड़ा बेटा, अर्थात गौरीनाथ का बड़ा बेटा, गाँव में ही रहता था। खेती-पथारी से लेकर नाते-रिश्तेदार और समाज के बीच जो भी दायित्व था, उसे वही सँभालता था। दोनों छोटे भाई अपने-अपने परिवार के साथ बाहर रहते थे।

गौरीनाथ मास्टर साहब दरवाजे पर बैठे अपने बड़े बेटे शोभित से बातचीत कर रहे थे, तभी रामकिशोर पहुँचे। दरवाजे पर पहुँचते ही रामकिशोर ने कहा-

“प्रणाम करता हूँ, काका।”

गौरीनाथ मास्टर साहब भी आत्मीयता से बोले-

“आओ, आओ रामकिशोर।”

दरवाजे के ओसारे पर बड़ी चौकी बिछी थी, जिस पर सात-आठ आदमी आराम से बैठ सकते थे। उसी पर गौरीनाथ मास्टर साहब बैठे शोभित से बातचीत कर रहे थे। उसी चौकी पर रामकिशोर को अपने पास बैठाते हुए गौरीनाथ ने पूछा-

“परिवार का क्या हाल-चाल है, रामकिशोर?”

उत्तर देते हुए रामकिशोर बोले- “परिवार का हाल-चाल तो बहुत अच्छा है, पर मैं स्वयं गड़बड़ाया हुआ हूँ।”

गौरीनाथ मास्टर साहब के मन में एक द्वन्द्व जागा। उन्हें लगा कि रामकिशोर परिवार को अपने से अलग समझ रहे हैं, पर उन्होंने यह बात कही नहीं। केवल इतना बोले-

"परिवार है न, सब लोग एक जैसे थोड़े ही होते हैं और सबका जीवन भी एक जैसा थोड़े ही होता है। परिवार के भीतर भी तरह-तरह के जीवन होते हैं।"

गौरीनाथ मास्टर साहब की बात सुनकर रामकिशोर ने मन-ही-मन सोचा कि साँझ का समय है, धीरे-धीरे रात बढ़ेगी ही। इसलिए अच्छा होगा कि जिस काम से आया हूँ, उसी सम्बन्ध में विचार-विमर्श करूँ। नहीं तो समय निकल जाएगा और मुख्य विषय बाकी ही रह जाएगा। यही सोचकर रामकिशोर बोले-

"काका, कुछ पूछने-विचारने आया हूँ।"

रामकिशोर की बात सुनकर गौरीनाथ मास्टर साहब बोले-

"क्या विचार करने आए हो, यह तो कहोगे न?"

रामकिशोर बोले- "काका, अब तक जीवन में जो सोचता आया हूँ, उसमें से एक भी बात सफल नहीं हुई। इसलिए अब मन में होता है कि यदि ऐसा ही चलता रहा, तो जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा।"

रामकिशोर की बात सुनकर गौरीनाथ मास्टर साहब ने मन-ही-मन विचार किया कि यह अनुकूल समय है। अनुकूल इसलिए कि जब तक मनुष्य का अपना विचार जाग्रत और अड़ा हुआ रहता है, तब तक वह दूसरे के विचार को, चाहे वह कितना भी अच्छा और अनुकूल क्यों न हो, ग्रहण करना नहीं चाहता। पर जब वह अपने विचार से असफल होता है, तब दूसरे का विचार सुनने और मानने के लिए तैयार हो जाता है। इसलिए रामकिशोर की वर्तमान स्थिति समझाने के लिए अनुकूल है। गौरीनाथ मास्टर साहब बोले- "रामकिशोर, तुम अकेले ऐसे आदमी नहीं हो जो

असफल हो रहे हो। ऐसा समझो कि समाज में अधिकांश लोग किसी-न-किसी रूप में इसी स्थिति से गुजरते हैं। जब तुम स्वयं को सही ढंग से पहचानकर सही दिशा में कदम उठाओगे, तभी जीवन की आशा मिलेगी।"

गौरीनाथ मास्टर साहब की बात सुनकर रामकिशोर के मन में नए विचार का जागरण हुआ। विचार जागते ही वे बोले-

"यह कैसे होगा, काका?"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले- "रामकिशोर, अक्सर लोग हमेशा अपनी तुलना दूसरों से करते रहते हैं। इसी कारण जिसकी उन्हें सचमुच आवश्यकता होती है, वह नहीं हो पाता। दुनिया है। अच्छे से अच्छे लोगों की संख्या भी बहुत है और बुरे से बुरे लोगों की संख्या भी कम नहीं। इसलिए लोग अपनी थाह नहीं समझ पाते कि वे स्वयं क्या हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य पहले यह जाने कि वह स्वयं क्या है। अच्छी तरह जाने, गहराई से जाने। जैसे ही मनुष्य अपने विषय में जानना शुरू करेगा, वैसे ही वह अपने जीवन को जान सकेगा। जैसे ही अपने जीवन को, अर्थात अपनी क्रिया-कलाप और अपने उद्देश्य को पहचान लेगा, वैसे ही वह नई दिशा में बढ़ना शुरू करेगा और उसके भीतर आत्मज्ञान भी जागने लगेगा। आत्मज्ञान जागेगा, तो मन एकाग्र होने लगेगा। जितना एकाग्र होकर वह अपना अध्ययन करेगा, उतनी ही उसकी आत्मचेतना सबल होगी। यही जीवन की सफलता की पहली सीढ़ी है।"

गौरीनाथ मास्टर साहब की बात सुनकर रामकिशोर के मन में ऐसे विचार का बीज पड़ा, जो अब तक के जीवन में कभी नहीं पड़ा था। शरीर तो धरती के समान है ही। जैसे धरती में जैसा बीज डाला जाए, उसी प्रकार का पौधा और पेड़ जन्म लेता है, वैसे ही मनुष्य के भीतर भी होता है। रामकिशोर बोले- "काका, यह कैसे समझूँ?"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले-

"रामकिशोर, जीवन का एक-एक दिन और दिन का एक-एक क्षण देवस्वरूप है। आवश्यकता उसे पहचानने की है। दिन भर में कौन-कौन से कामों में समय बीता, उनमें कितना समय नए काम में लगा और कितना समय अपने व्यावहारिक क्रिया-कलाप में बीत गया, इसका परीक्षण करना चाहिए। जितना समय नए काम में दिया गया, वही समय जीवन की सफलता की सीढ़ी पर चढ़ना है।"

लम्बी साँस छोड़ते हुए रामकिशोर बोले-

"काका, यह कैसे परख पाऊँगा?"

रामकिशोर का प्रश्न सुनकर गौरीनाथ मास्टर साहब मन-ही-मन प्रसन्न होकर मुस्कुरा उठे। मुस्कुराते हुए बोले-

"रामकिशोर, जब अपने काम से सन्तुष्ट होओगे और मन में खुशी आएगी, तब समझना कि मैं सफलता की सीढ़ी पर चढ़ रहा हूँ। प्रतिदिन, प्रतिक्षण मनुष्य सफल-असफल होता चलता है, पर इसे सभी नहीं समझ पाते। जिसे यह समझने का ज्ञान हो जाता है, अर्थात सफलता और असफलता को अनुभव करने का हुनर आ जाता है, वही अपनी सफलता-असफलता समझ पाता है। जैसे ही तुम यह समझने लगोगे, वैसे ही यह भी समझ पाओगे कि आज के जीवन में कितनी सफलता मिली और कितनी असफलता हुई।"

गौरीनाथ मास्टर साहब की बात रामकिशोर ठीक से नहीं समझ पाए, इसलिए बोले-

"काका, जरा स्पष्ट करके कहिए।"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले-

"रामकिशोर, दुनिया की ओर जो दिन भर तुम और दूसरे लोग देखते रहते हो, उसे छोड़ो। तुम देखते ही हो कि जो अपने रास्ते की ओर

देखकर कदम बढ़ाता है, वह अपनी यात्रा पूरी कर लेता है। पर जो आकाश की ओर या किसी और चीज की ओर दृष्टि लगाए रास्ते पर चलता है, उसी के पैर में ठोकर लगती है और वही गिरता भी है। जैसे ही तुम स्वयं को पहचानते-जानते अपने रास्ते पर चलोगे, वैसे ही न गिरने की सम्भावना रहेगी, न ठोकर लगने की। सभी जानते हैं और तुम भी जान लो कि मनुष्य के शरीर के भीतर मन होता है, बुद्धि होती है, विवेक होता है और आत्मा भी होती है। मन, बुद्धि, विवेक और आत्मा पर ध्यान रखकर जब कोई काम करोगे या कोई विचार करोगे, तब मन में तृप्ति आएगी। वही तृप्ति सफलता है। जैसे ही ऐसे जीवन के भीतर चलने लगोगे, वैसे ही अपनी क्षमता में वृद्धि भी होने लगेगी और मन की खुशी भी बढ़ने लगेगी। जब तक यह प्राप्त नहीं होगा, तब तक हमेशा दूसरों से कुछ लेने की इच्छा जागती रहेगी। किसी से कुछ माँगना उतना उचित नहीं, जितना उचित किसी को कुछ देना है। सभी जानते हैं और तुम भी जानते हो कि भजन की पंक्ति में भी गाया जाता है, 'भिखारी सारी दुनिया, दाता एक राम।' वह 'राम' कौन है? अपने से अलग जिस राम पर तुम्हारा ध्यान है, वह भ्रम है। अपनी आत्मा ही अपना राम है। अपनी आत्मा क्या है? अपना विवेकपूर्ण विचार और अपना विवेकपूर्ण कर्म ही अपनी आत्मा है।"

गौरीनाथ मास्टर साहब के गम्भीर विचार सुनकर रामकिशोर ने चैन की साँस ली। साँस छूटते ही जैसे उनका पुराना मन कहीं खो गया। अमावस के अँधेरे के बाद जैसे पूनम की उजली चाँदनी धरती पर उतरती है, वैसे ही रामकिशोर के मन में उजाला उतरने लगा। वे अपने-आप में डूबने लगे। एक ओर मन की तृप्ति बढ़ रही थी, दूसरी ओर भीतर यह अनुभव भी जाग रहा था कि जिस दुनिया और जिस जीवन में वे अब तक रहते आए थे, उससे अलग भी एक दुनिया है, और उसके अपने लोग भी हैं। रामकिशोर बोले- "काका, लगता है जैसे मन का सारा बोझ

कहीं खो गया और अपने-आप मन पूरी तरह खाली हो गया!”

रामकिशोर की बात सुनकर गौरीनाथ मास्टर साहब मन-ही-मन सोचने लगे कि ऐसा केवल रामकिशोर के साथ नहीं है। समाज में ऐसे लोग बहुत हैं जिनका मन कूड़ा-करकट से, यानी बुरे-बुरे विचारों से भरा हुआ है। समाज भी ऐसा ही हो गया है, जो दिन भर वही कूड़ा-करकट परोसता रहता है और अनाड़ी-अबूझ लोग उसी को स्वीकार करते हुए दिशाहीन होकर चलते रहते हैं। जब मनुष्य-रूप में धरती पर जन्म मिला है, तब हमेशा यह सोचते रहना कि भगवान कृपा करेंगे तो अमुक वस्तु मिलेगी, भ्रम के सिवा और क्या है? भगवान तो कृपा कर ही चुके हैं कि मनुष्य का शरीर देकर धरती पर खड़ा कर दिया है।

रामकिशोर बोले-

“काका, दिन भर कोई-न-कोई चिन्ता मन को पकड़े रहती है। एक चिन्ता मिटती है और दूसरी चिन्ता मन को पकड़ लेती है।”

रामकिशोर की बात सुनकर गौरीनाथ मास्टर साहब मन-ही-मन सोचने लगे। उन्हें लगा कि ऐसा केवल रामकिशोर के साथ नहीं, प्रायः अधिकांश लोगों के साथ होता है। इसे सामान्य जीवन भी कहा जा सकता है। पर सामान्य जीवन से अलग भी तो एक जीवन है, जिसे विशेष जीवन कहा जाता है। गौरीनाथ मास्टर साहब गम्भीर होकर बोले-

“रामकिशोर, जैसे तुमने चिन्ता की बात कही है, वैसे ही चिन्तन भी है।”

‘चिन्ता’ और ‘चिन्तन’ शब्द रामकिशोर भी जानते थे, पर दोनों के बीच क्या अन्तर है, इस पर उन्होंने कभी ठीक से चिन्तन-मनन नहीं किया था। इसलिए दोनों शब्द उन्हें लगभग एक जैसे लग रहे थे। पर गौरीनाथ मास्टर साहब के मुँह से यह बात सुनकर उनके मन में भी जिज्ञासा जागी। वे बोले- “काका, चिन्ता और चिन्तन के बीच क्या अन्तर

है, यह जरा अलग-अलग करके कहिए।"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले-

"रामकिशोर, बिना किसी उद्देश्य के सोचना, यानी योजना-विहीन सोचना, चिन्ता है; और योजनाबद्ध रूप से सोचना चिन्तन है। मतलब यह कि व्यर्थ ही कोई-न-कोई विचार मन में जगाकर मन को उसके पीछे लगा देना चिन्ता का कारण है। पर जब जीवन का उद्देश्य बनाकर, योजनाबद्ध रूप में उस पर सोचते-विचारते हैं, तब वह चिन्तन होता है। एक ही तरह का काम चिन्ता भी हो सकता है और चिन्तन भी। अन्तर उद्देश्य, दिशा और विवेक का है।"

गौरीनाथ मास्टर साहब की बात रामकिशोर के मन में पूरी तरह स्पष्ट नहीं उतरी। इसलिए बोले-

"काका, जरा अच्छी तरह कहिए।"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले-

"महाभारत की कथा और रामायण की कथा तो जानते ही हो?"

बीच में रामकिशोर बोले- "हाँ।"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले- "पहले महाभारत की कथा पर दृष्टि डालो। कौरवों और पाण्डवों के बीच जो युद्ध हुआ, उसमें लाखों-करोड़ों सैनिक मारे गए। पाण्डवों के प्रमुख योद्धा अर्जुन थे। उन्होंने कौरवों की विशाल सेना का वध किया।"

रामकिशोर बोले- "हाँ, अर्जुन ने तो किया ही।"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले- "यह भी तुम्हें मालूम है कि यदि कोई मनुष्य एक भी हत्या करता है, तो वह पाप का भागी बनता है और नरक का अधिकारी माना जाता है। पर अर्जुन के साथ ऐसा कहाँ हुआ? इतने वध के बाद भी वे स्वर्ग गए। यही अन्तर समझना चिन्ता और चिन्तन का अन्तर समझना है। किस परिस्थिति में चिन्तन चिन्ता बन

जाता है और चिन्ता चिन्तन बन जाती है, उसकी बारीकी को अच्छी तरह समझना पड़ेगा।"

रामकिशोर के मन में जैसे नए प्रकाश की ज्योति नए रूप में जाग उठी। इससे मन का शोक कम हुआ। शोक कम होते ही उनका हृदय वैसे ही प्रफुल्लित हुआ जैसे कमल की पंखुड़ियाँ प्रकाश पाकर खुल जाती हैं। वे बोले-

"काका, आपने रामायण की चर्चा भी की थी?"

गौरीनाथ मास्टर साहब बोले- "रामकिशोर, राम के सबसे बड़े भक्त हनुमान थे। उन्होंने लंका में कितना संहार किया, यह किसी से छिपा नहीं है। पर वे हत्यारे नहीं कहलाए। यही चिन्तन और चिन्ता का अर्थ है। यदि अपने जीवन से प्रेम है, तो अपने-आपको जानने की कोशिश करो। देहधारी मनुष्य में देवताओं से भी अधिक शक्ति है। जानते ही हो कि मनुष्य का शरीर प्राप्त करने की अभिलाषा देवताओं को भी रहती है।" ❑

इष्ट-अनिष्ट

☰

दूसरे गाँवों की तरह चम्पापुर भी मिथिलांचल का एक मध्यम आकार का गाँव है। आठ-नौ सौ बीघे के रकबे वाले इस गाँव में सात-आठ हजार लोग रहते हैं। मिथिलांचल में ऐसे भी बहुत से गाँव हैं जिनका रकबा डेढ़-दो हजार बीघे तक फैला हुआ है और जनसंख्या भी पन्द्रह-बीस हजार तक पहुँचती है।

वैसे, मिथिलांचल में धार-धूर, अर्थात नदी-नाले, जाल की तरह फैले हुए हैं, जो उत्तर से दक्षिण की ओर बहते हैं, पर चम्पापुर में ऐसी स्थिति नहीं है। चम्पापुर के भीतर एक भी धारा नहीं बहती, पर गाँव की पूर्वी सीमा के किनारे, दूसरे गाँव की ओर से, एक धारा बहती है और पश्चिमी सीमा के किनारे वाले गाँव से भी एक धारा गुजरती है। इसी कारण चम्पापुर में भी बाढ़ आती है। दूसरे गाँवों की तरह यहाँ भी घर-द्वार ढहते हैं और खेतों की फसल धारा में बह जाती है।

गाँव की पूर्वी धारा छहमासी धारा है। सावन में, जब वर्षा शुरू होती है, तब से लेकर अगहन-पूस बीतते-बीतते वह सूख जाती है। पर पश्चिमी धारा साल भर बहती है, यानी चलायमान रहती है। दो-तीन वर्ष पहले तक, अर्थात जब तक धारा पर पुल नहीं बना था, तब तक पश्चिमी धारा में साल भर और पूर्वी धारा में छह महीने नाव चलती थी। इधर दो-तीन वर्षों से नाव चलना बन्द हो गया है। वैसे उत्तर से, अर्थात नेपाल के पहाड़ों से, निकली हुई धाराएँ आगे चलकर एक ओर कोसी में और दूसरी

ओर कमला में मिलती हुई गंगा में जा मिलती हैं, इसलिए उनकी लम्बाई भी अधिक है। पुल बनने से चम्पापुर और उसके आस-पास के गाँवों के लोगों को अवश्य सुविधा हुई है, पर ऐसे सैकड़ों गाँव अभी भी हैं जिनके लोगों को आज भी नाव का ही सहारा लेना पड़ता है।

चम्पापुर गाँव की भौगोलिक बनावट दूसरे गाँवों से भिन्न है। बहुत से गाँव ऐसे हैं जिनमें चौर-चाँचर, यानी नीची फैलावदार जमीन, अधिक है और ऊँची जमीन कम है, जिससे लोगों का निवास सिमट गया है। वहीं ऐसे भी बहुत से गाँव हैं जिनमें चौर-चाँचर नहीं के बराबर है, अर्थात ऊँची जमीन अधिक है, इसलिए लोगों का निवास बिखरा हुआ है। चम्पापुर में तीन-चौथाई ऊँची जमीन है और एक-चौथाई चौरी जमीन। इस कारण गाँव में वासभूमि पर्याप्त है। वासभूमि पर्याप्त होने से बस्ती फैली हुई है, अर्थात गाँव खुला और छितरा-बसा है। चम्पापुर एक अर्थ में और भी दूसरे गाँवों से भिन्न है। वह यह कि सघन गाँवों में आग लगने पर जितनी क्षति होती है, उतनी क्षति खुले और बिखरे गाँव में नहीं होती। चम्पापुर भी ऐसा ही है। चम्पापुर में बाग-बगीचे अधिक हैं, इसलिए आग फैलने का डर भी गाँववालों को कम रहता है। यह केवल आज की बात नहीं, पहले भी ऐसा ही था।

मौसम के अनुरूप जैसे जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उन जीव-जन्तुओं में कुछ ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य के जीवन के लिए इष्ट, अर्थात हितकारी, होते हैं। उसी तरह अनिष्टकारी जीव-जन्तु भी होते हैं, जो मनुष्य के जीवन में अवरोध और हानि पहुँचाते हैं। जैसे जीव-जन्तुओं से लाभ और हानि दोनों होते हैं, वैसे ही बाढ़ और सूखा से भी होते हैं। अधिक वर्षा होने पर बड़ी बाढ़ आती है, जिससे कटाव और बहाव के कारण भारी हानि होती है। उसी तरह वर्षा न होने पर सूखा पड़ता है और उससे भी बहुत क्षति होती है। पर ऐसा भी होता है कि किसी वर्ष न अधिक वर्षा होती है और न अधिक सूखा पड़ता है। उस

वर्ष समय सन्तुलित रहता है। इससे उपज-बाड़ी अच्छी होती है और घर-द्वार भी नहीं गिरते-पड़ते।

उसी चम्पापुर गाँव में हरिहर और मुरलीधर नाम के दो व्यक्ति हैं। दोनों हमउम्र होने के कारण बचपन से साथ-साथ स्कूल और कॉलेज में पढ़े और बी.ए. पास करने के बाद गाँव में ही रहने लगे। जैसे हरिहर के पूर्वज किसानी जीवन अपनाकर अपना परिवार चलाते आए थे, वैसे ही मुरलीधर का परिवार भी किसानी जीवन से जुड़ा हुआ था।

हरिहर के पास दस-ग्यारह बीघे जमीन है, जबकि मुरलीधर के पास केवल सात-आठ बीघे जमीन है। दोनों के साथ संयोग ऐसा है कि जैसे हरिहर अपने भाइयों में अकेला है, वैसे ही मुरलीधर भी अकेला है। इसमें दोनों के बीच एक अन्तर भी है। हरिहर की पाँच बहनें हैं, जबकि मुरलीधर की केवल दो बहनें हैं। मतलब यह कि हरिहर छह भाई-बहन हैं, जबकि मुरलीधर केवल तीन भाई-बहन हैं।

बाल-विवाह समाज में धीरे-धीरे लगभग समाप्त हो गया है। धीरे-धीरे समाप्त होने का अर्थ यह है कि जिस गाँव-समाज में साठ-सत्तर प्रतिशत जातियों में बाल-विवाह का चलन था, अर्थात बेटा-बेटी का बचपन में विवाह कर देने की प्रथा थी, उनमें अब केवल दस-पन्द्रह प्रतिशत जातियाँ ही ऐसी बची हैं जिनमें बाल-विवाह का चलन रह गया है। बाकी सभी जातियों ने बाल-विवाह को छोड़ दिया है। वैसे कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, या थीं भी, जिनमें बाल-विवाह कभी था ही नहीं।

बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीति तो मिट गई, पर दूसरी कुरीति ने जोर पकड़ लिया। जिस समाज में कभी दान-दहेज का चलन नहीं था, उसी समाज में दान-दहेज इतना फैल गया कि बेटी का विवाह एक विकराल सामाजिक समस्या बन गया है।

समय और परिवेश के अनुसार धर्म और व्यवहार में परिवर्तन

आता ही है। जिस समाज में विवाह के समय दान-दहेज लेना अधर्म माना जाता था, उसी समाज में आज बेटे के विवाह में लिया जाने वाला दान-दहेज अधर्म नहीं, जैसे धर्म बन गया है। कुछ वर्ष पहले तक, या कहिए परिवार की पिछली पीढ़ी तक, बेटे के विवाह में दान-दहेज लेने वाले लोग समाज में सिर उठाकर नहीं चल सकते थे। समाज उनकी निन्दा करता था। आज वही दान-दहेज लेने वाले माता-पिता छाती तानकर चलते हैं और समाज भी उनकी वाहवाही करता है कि अमुक आदमी ने आज तक के सामाजिक इतिहास में महानता का रिकार्ड कायम कर दिया। गाँव में आज तक किसी को इतना नगद और वस्तु-जात, अर्थात गाड़ी-सवारी, सोना-चाँदी और सामान आदि नहीं मिला था, जितना अमुक व्यक्ति को मिला है। जो भी हो, यह सामाजिक मुद्दा है; समाज जाने।

वैसे, जब सामन्तवादी व्यवस्था टूटने लगती है और नई पूँजीवादी व्यवस्था खड़ी होने लगती है, तब समाज की आर्थिक रीति-नीति में भी ऐसी-ऐसी रीति-कुरीतियाँ जन्म लेने लगती हैं। इसे व्यवस्था का इष्ट-अनिष्ट भी कहा जा सकता है। कोई भी व्यवस्था हो, सामन्तवादी व्यवस्था हो, नई पूँजीवादी व्यवस्था हो, पूँजीवादी व्यवस्था हो, समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था हो या साम्राज्यवादी, जब एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था में बदलने लगती है, तब यदि कुछ नए इष्ट गुण आते हैं, तो कुछ अनिष्ट गुण भी साथ-साथ आ जाते हैं। इसे अनिवार्य प्रक्रिया भी कहा जा सकता है और नहीं भी। क्योंकि यदि समाज उसे पनपने न दे, तो उसे रोका भी जा सकता है। यह समाज के व्यवहार पर निर्भर करता है। समाज की चाल-ढाल जैसी होगी, उसकी बढ़वार भी वैसी ही होगी। भले ही ऐसा व्यवहार कुछ समय बाद समाज के कोढ़-करेज को भीतर से खोखला करने लगे, पर जब तक वह परिपक्व नहीं होता, तब तक किसी-न-किसी रूप में बढ़ता ही रहता है।

छह भाई-बहनों में हरिहर दूसरे नम्बर पर था। अर्थात हरिहर से

एक बहन बड़ी थी और बाकी चार बहनें छोटी। हरिहर के पिता नसीवलाल ने बेटियों का विवाह समयानुसार करते हुए पाँचों का विवाह कर दिया, पर हरिहर का विवाह नहीं किया था। इसका कारण हरिहर की पढ़ाई-लिखाई थी। जब तक समाज में दान-दहेज का चलन कम था, तब तक नसीवलाल ने तीन बेटियों का विवाह बिना दान-दहेज के कर दिया था। पर चौथी बेटी की बारी आते-आते समाज में दान-दहेज ने जोर पकड़ लिया। जैसे धरती और आकाश के बीच, जहाँ दोनों की आकर्षण-शक्ति मिलती हुई मालूम होती है, जिसे हम क्षितिज कहते हैं, उस सीमा पर पहुँचने के बाद कोई वस्तु या कोई जीव-जन्तु अटक-सा जाता है, यानी न वह ऊपर गया हुआ होता है और न नीचे आ पाता है, वैसे ही नसीवलाल अपनी चौथी बेटी के विवाह में अटक गए। पर अपनी सूझ-बूझ से उन्होंने बिना दान-दहेज के दोनों छोटी बेटियों का विवाह कर दिया। उन्होंने यह उपाय किया कि जाति के भीतर भी अनेक शाखाएँ बनी हुई हैं, जिनमें एक-दूसरे से ऊँच-नीच भी मानी जाती है। उसी में नसीवलाल अपनी सीमा, यानी जाति की सीमा, से थोड़ा नीचे उतरकर दूसरी शाखा में बेटियों का विवाह कर आए और दान-दहेज के रोग से बच गए। ऐसे विवाह को अन्तर्जातीय विवाह नहीं कहा जाता।

जैसे नसीवलाल, हरिहर के पिता, ने अपनी पाँचों बेटियों का विवाह कर दिया, वैसे ही श्रीधर, मुरलीधर के पिता, ने भी अपनी दोनों बेटियों का विवाह कर दिया। हरिहर और मुरलीधर, दोनों ने साथ-साथ अर्थशास्त्र ऑनर्स से बी.ए. पास किया था। हरिहर के पिता नसीवलाल ने अपने बेटे से साफ-साफ कहा- "बेटा, मैं बीमार रहता हूँ। तुम भी जवान हो गए हो, यानी तुम्हें भी अब इतना अधिकार हो गया है कि अपनी समझ से सब कुछ कर सकते हो। पिता जी ने मुझे जितनी सम्पत्ति दी थी, उसी से अब तक परिवार की गाड़ी खींचता आया हूँ। यदि पिता की दी हुई सम्पत्ति में बढ़ोतरी नहीं की, तो एक धुर भी गँवाया नहीं। जैसे

सरकारी नौकरी हो या किसी सेठ-साहूकार की सेवा, एक उम्र आने के बाद आदमी को काम, सेवा से मुक्त कर दिया जाता है, वैसे ही मैं भी अब परिवार के भार से मुक्त हूँ।"

पिता की बात सुनकर हरिहर को मन-ही-मन बहुत खुशी हुई, पर उसने कुछ नहीं कहा। संयोग ऐसा हुआ कि कुछ ही दिन बाद नसीवलाल चल बसे। जैसे नसीवलाल ने हरिहर से, यानी अपने बेटे से कहा था, वैसा तो श्रीधर ने मुरलीधर से नहीं कहा- पर इतना अवश्य कहा- "बेटा, मैं एक उम्र पर आ गया हूँ। दूसरों की तरह काशी-वृन्दावन तो नहीं जाऊँगा, अपने ही घर में रहूँगा। पर तुम अपने परिवार के अनुकूल अपना जीवन खड़ा कर लो। अपना जो पारिवारिक दायित्व था, उसे अब तक निभाता आया हूँ। केवल एक काम बाकी है, यानी तुम्हारा विवाह करना, वह भी इस बार कर ही लूँगा। अपना जीवन अपने ढंग से निर्माण करो।"

पिता की बात सुनकर मुरलीधर ने हाँ-हूँ कुछ नहीं कहा- पर मन-ही-मन उन्हें इतनी खुशी अवश्य हुई कि पिता ने दूसरे पिताओं की तरह व्यवहार नहीं किया। उन्होंने स्वेच्छा से परिवार सँभालने के लिए दे दिया। दूसरे पिता जैसे अभिभावकत्व के नाम पर बेटे के साथ झगड़ा-झंझट और केस-मुकदमा तक करते हैं, वैसा उन्होंने नहीं किया।

चार-पाँच महीने के बाद श्रीधर ने मुरलीधर का विवाह करा दिया। अपने मन में जो धार्मिक धारणा थी, यानी बेटे के विवाह में दान-दहेज नहीं लेना, उस धारणा को निभाते हुए श्रीधर ने कन्यापक्ष से, अर्थात जिनकी लड़की के साथ मुरलीधर का विवाह हुआ, साफ कह दिया-

"दोनों परिवारों के बीच, यानी लड़का और लड़की के परिवारों के बीच, एक नया परिवार खड़ा करना है। वह परिवार सुन्दर और सुसभ्य बनकर खड़ा हो, यह दोनों पक्षों का दायित्व है। बेटे के प्रति मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने ईमानदारी से निभा दिया। बेटी के प्रति आपका क्या कर्तव्य है, वह आपका कर्तव्य है, उसे आप जानें।"

दोनों, अर्थात हरिहर और मुरलीधर, गाँव में ही रहने लगे। अब तक यहाँ का किसानी जीवन ऐसा रहा है कि साल के कुछ महीनों तक काम रहता है और बाकी महीने खालीपन में बीत जाते हैं। यह सोचकर हरिहर एल.आई.सी. की एजेंसी करने लगा, जिससे गाँव के लोगों से उसका सम्पर्क बढ़ा। मनुष्य का अपना जो स्वभाव होता है, उसी के अनुकूल वह अपना जीवन भी चलाता है। हरिहर के स्वभाव में ऐसा गुण कहिए या अवगुण था कि वह एक की निन्दा दूसरे के पास करता और दूसरे की निन्दा तीसरे के पास। पूरे समाज में, अर्थात पूरे गाँव में उठना-बैठना रहने के कारण, एल.आई.सी. के बहाने हरिहर चुपचाप, दूसरों को भनक लगे बिना, अपने स्वभाव के अनुसार दोनों धन्धे करने लगा, एल.आई.सी. का भी और चुगलखोरी का भी। वह एक की अच्छी-बुरी बात दूसरे तक और दूसरे की बात तीसरे तक आँख बचाकर पहुँचाने लगा। इससे समाज के लोगों को यह भ्रम होने लगा कि हरिहर उनका अपना घनिष्ठ आदमी है। पर भीतर-ही-भीतर समाज में एक-दूसरे के प्रति घृणा कहिए या कटुता, बनने लगी। इससे समाज में विश्वासहीनता फैल गई। एक-दूसरे पर विश्वास करने में कमी आने लगी और हमेशा किसी-न-किसी कारण विवाद होता ही रहता।

वैसे मुरलीधर के पिता जीवित थे, पर जैसे दूसरे परिवारों में पिता बेटे-पतोहू पर अभिभावक की तरह अपना अधिकार जमाते हैं, वैसा श्रीधर मुरलीधर दम्पती पर नहीं जमाते थे। श्रीधर के अपने स्वभाव के अनुसार उनके मन में यह बात थी कि उनके अपने दिन जितने हैं, उतने हैं। उसके बाद तो मुरलीधर का ही परिवार होगा और समाज भी रहेगा ही। इसलिए मुरलीधर में ऐसा विचार क्यों न बने कि जैसे अपना परिवार अपना होता है, वैसे ही दूसरे का परिवार भी उसका अपना होता है। अच्छा-से-अच्छा और बुरा-से-बुरा मनुष्य भी दूसरों के प्रति चाहे जैसा व्यवहार रखे, अच्छा या बुरा, पर अपने परिवार के प्रति प्रायः अच्छा ही

व्यवहार रखता है। वैसे परिवेश ऐसा बन गया है कि धन-सम्पत्ति को लेकर भाई-भाई में और पिता-पुत्र के बीच भी कटुता और बेईमानी बढ़ गई है। फिर भी परिवेश चाहे जैसा हो, मनुष्य के स्वभाव में ऐसा गुण भी होता है जो परिवेश के विपरीत जाकर भी अपना रास्ता बना लेता है।

परिवार का भार सँभालने के बाद मुरलीधर ने सोचा कि भले ही परिवार समाज का एक अंग है, पर अपने परिवार के भीतर इतनी स्वतंत्रता तो सबको है ही कि अपनी इच्छा और विवेक के अनुसार अपना परिवार चला सके। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि परिवार का कोई काम ऐसा न हो जिससे समाज को हानि पहुँचे। यही सोचकर मुरलीधर पूर्ण स्वतंत्र होकर अपने परिवार के कल्याण का रास्ता पकड़ अपने जीवन की राह पर चले। उन्होंने खेती में भी सुधार किया और किसानी जीवन को व्यवसायोन्मुख भी बनाया। अब तक, श्रीधर के जीवनकाल तक, वे केवल अन्न की खेती करते थे। समाज के अधिकांश किसान भी यही करते थे। पर मुरलीधर ने अन्न की खेती को सीमित कर दिया, यानी उतनी ही अन्न-खेती का रास्ता पकड़ा जितने से परिवार का अन्न-खर्च चल सके। बाकी जमीन में नकदी फसल, यानी तरकारी से लेकर फल-फूल तक की खेती भी शुरू की। समाज के विकास और गाँव की जरूरत को देखते हुए, जब सड़कें कच्ची थीं, जहाँ-तहाँ सड़क पर गड्ढे थे और बरसात में कीचड़ तथा पानी का जमाव हो जाता था, उन्होंने टायर-गाड़ी की व्यवस्था भी की और एक आदमी रखकर उसे चलवाने लगे। खेती और गाड़ी, दोनों के सहयोग से मुरलीधर से समाज का उपकार होने लगा। अभी बस इतना ही। जैसे हरिहर से समाज को अनिष्ट होने लगा, वैसे ही मुरलीधर से इष्ट हो रहा था। ❑

स्वभाव और प्रभाव

☰

धरती पर जितने मनुष्य हैं, सबका अपना-अपना स्वभाव है और सब पर किसी-न-किसी रूप में दूसरों का प्रभाव भी पड़ता है। यह कोई आज की बात नहीं; आरम्भ से ऐसा होता आया है। जब से जीव ने मनुष्य का रूप धारण किया, तभी से उसके भीतर स्वभाव का निर्माण भी हुआ और दूसरों को देखकर, दूसरों से सुनकर, उस पर प्रभाव भी पड़ता रहा।

अपनी बात दूसरे को समझाना, अर्थात दूसरे को प्रभावित करना, यह भी कोई आज की बात नहीं है; सदैव से होता आया है। हाँ, आरम्भ में जब मनुष्य अविकसित अवस्था में था, तब जीवन आज की तरह विस्तृत नहीं था। जैसे बच्चे का जन्म होता है और वह अविकसित अवस्था में रहता है, फिर धीरे-धीरे जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसकी बुद्धि भी बढ़ती है और उसका स्वभाव भी विकसित होते हुए बदलता चलता है। दूसरे को देखना और उसकी बात-विचार सुनना, दोनों तरह का प्रभाव डालता है, अच्छा भी और बुरा भी। अच्छा सुना, अच्छा देखा तो अच्छा प्रभाव पड़ा; बुरा देखा, बुरा सुना तो उसका प्रभाव बुरा ही हुआ। हर मनुष्य का अपना स्वभाव होता है। उसे मनुष्य की अपनी सम्पत्ति कहिए या अपनी पूँजी। जीवन के साथ, अर्थात समय के साथ जैसे-जैसे मनुष्य बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके स्वभाव में भी वृद्धि और परिवर्तन होता जाता है।

वैसे, भोगवादी, यानी भौतिकवादी जीवन भी है और

आध्यात्मवादी जीवन भी। यह कोई आज बना हुआ विचार नहीं; सदैव से होता आया है और आज भी है। भोगवादी जीवन और स्वभाव का अर्थ है संसार की वस्तुओं को देखकर उनके प्रति आकर्षित होना। आध्यात्मवादी जीवन का अर्थ है अपने-आपको परखते हुए मानवीय संवेदना को स्वीकार करना और उसी के अनुसार अपने जीवन का निर्माण करना। ऋषि-मुनियों ने संसार को दो रूपों में देखा है। एक संसार वह है जिसे बाहरी आँखों से देखा जाता है, अर्थात धरती, आकाश, ग्रह-नक्षत्र, नदी-नाले, समुद्र और पहाड़ों से बनी हुई दुनिया। दूसरा संसार मनुष्य के भीतर है, जिसमें मन, बुद्धि, विवेक और आत्मा है। देखने पर दोनों संसार हैं; पर जिस दुनिया में हम रहते हैं, जिसकी मिट्टी पर चलते हैं, जिसकी उपज-बाड़ी खाते हैं और जिससे जीवन चलता है, वह बाहरी दुनिया प्रत्यक्ष है। शरीर के भीतर की दुनिया सूक्ष्म है, जिसे पहचानने के लिए भीतर की दृष्टि चाहिए। इसी गहरे बोध की ओर संकेत करते हुए शंकराचार्य ने कहा है, 'ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या'।

जैसे स्वभाव के अनुसार दूसरों के गुण अपने भीतर आते हैं, वैसे ही अपने गुण भी दूसरों तक पहुँचते हैं। मनुष्य की अपनी चेतना, यानी बौद्धिक शक्ति, जैसी होती है, उसी के अनुसार दूसरों का प्रभाव उस पर पड़ता है और उसका अपना प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। जिसकी चेतना जितनी गहरी होती है, उसका प्रभाव उतनी ही गहराई तक जाता है। जिसकी दृष्टि जितनी गहरी होती है, अर्थात दुनिया और अपने-आपको देखने की दृष्टि जितनी गहरी होती है, उसका जीवन और स्वभाव भी उसी के अनुसार बनता है। कॉलेज से लौटने के बाद रबीन्द्र जलपान कर अपनी कोठरी में बैठा और स्वभाव तथा प्रभाव के सम्बन्ध में विचार करने लगा। रबीन्द्र के मन में यह विचार इसलिए उठा कि आज कक्षा में प्रोफेसर साहब के मुँह से उसने यही विषय सुना था। लगभग सौ छात्रों के बीच प्रोफेसर साहब समय के हिसाब से, अर्थात पैंतालीस मिनट की

घंटी के भीतर, धाराप्रवाह बोल गए थे। सभी छात्रों ने सुना, रबीन्द्र ने भी सुना। जिस बात या विषय को थोड़ा-बहुत पहले से समझा गया हो, उसे समझना अलग बात है; और जिसे बिल्कुल नहीं समझा गया हो, उसे समझना अलग। कुछ-न-कुछ अन्तर आ ही जाता है। उस पर भी जो विद्यार्थी कुशाग्र होता है, वह जिस तरह समझता है, वैसा साधारण ग्रहण-शक्ति वाला विद्यार्थी नहीं समझ पाता। वैसे, रबीन्द्र बहुत कुशाग्र श्रेणी का छात्र नहीं था, पर लगनशील होने के कारण वह दूसरों से अलग अवश्य था।

स्वभाव और प्रभाव के विषय में रबीन्द्र के मन में यह विचार उठ रहा था कि जैसे कक्षा में प्रोफेसर साहब धाराप्रवाह बोल गए, वैसे ही वह भी धाराप्रवाह बोल सके। पर उसके लिए तो उतनी जानकारी होना जरूरी है। वह तो अभी उसके पास नहीं है। उस पर भी आज पहली-पहली बार यह विषय सुना है, तब ऐसा कैसे होगा? इसके लिए कठोर मेहनत और लगन की भी जरूरत है, और वह भी अपने भीतर अभी पूरी तरह नहीं है। यहाँ तक आते-आते, यानी विचार की इस सीमा तक पहुँचते-पहुँचते रबीन्द्र का मन थक गया। थके हुए मन में यह बात उठी कि किसी विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए वैसी जिज्ञासा भी चाहिए। जिसके भीतर किसी विषय को जानने की जिज्ञासा जितनी अधिक होगी, वह उस विषय की जानकारी उतनी ही अधिक प्राप्त कर सकेगा।

रबीन्द्र के मन में विश्वास जागा। विश्वास जागते ही मन में उठा कि अच्छा होगा, प्रोफेसर साहब के यहाँ जाकर उनसे ही पूछ लिया जाए और सारी बात समझ ली जाए। अपने विश्वास के साथ ही रबीन्द्र के मन में यह विचार भी उठा कि जो प्रोफेसर या शिक्षक प्राइवेट ट्यूशन के फेर में रहते हैं, वे कक्षा में ही उलझाव पैदा करते हैं, ताकि उनका ट्यूशन ठीक से फले-फूले। पर जो शिक्षक या प्रोफेसर ऐसे नहीं होते, जो प्राइवेट

ट्यूशन को पाप या बुरा कर्म समझते हैं, वे कक्षा में भी ईमानदारी से पढ़ाते हैं। यदि कोई विद्यार्थी कक्षा में अनुपस्थित रहा हो, या उपस्थित रहने पर भी ठीक से समझ न पाया हो, और वह डेरे पर जाकर शिक्षक से पूछे, तो वे उसे कक्षा से भी अधिक अच्छी तरह समझा देते हैं।

ऐसा गुण सोनभद्र बाबू में भी था। एक तो उनका पढ़ाने का ढंग ही ऐसा था कि अधिकांश विद्यार्थी कक्षा में ही ठीक से समझ जाते थे। पर मेरे जैसे साधारण ग्रहण-शक्ति वाले गिने-चुने विद्यार्थी ही ठीक से नहीं समझ पाते। उसका कारण भी था। जो विद्यार्थी कक्षा में जाने से पहले घर पर उस विषय को पढ़ लेते हैं, जिसे कक्षा में पढ़ाया जाना है, वे तो अच्छी तरह समझ जाते हैं। पर मेरे जैसे विद्यार्थी, जो कक्षा की पढ़ाई से पहले घर पर तैयारी नहीं करते, उन्हीं के साथ वैसा होता है जैसा मेरे साथ हुआ। जो भी हो, किसके साथ क्या होता है, उससे मुझे क्या मतलब? मेरा मतलब तो अपने से है। सभी विद्यार्थियों को एक जैसी सुविधा भी तो नहीं होती। ऐसे विद्यार्थी भी हैं जिन्हें दिन में घर पर पढ़ने का अवसर नहीं मिलता।

सोचते-विचारते रबीन्द्र का मन मान गया कि भले ही साँझ का समय है, सोनभद्र बाबू टहल-घूमकर लौट ही आए होंगे। यदि नहीं भी आए होंगे, तो अभी चला ही जाए।

रबीन्द्र सोनभद्र बाबू के यहाँ के लिए चल पड़ा। सोनभद्र बाबू का डेरा रबीन्द्र के घर से करीब आधा किलोमीटर दूर था। रबीन्द्र के मन में विषय का प्रवाह इस तरह पकड़ बना चुका था कि उसे रास्ते की दूरी का आभास ही नहीं हुआ। सोनभद्र बाबू डेरे पर थे। जैसे कोई अपने घर में बिना किसी लाग-लपेट के धड़धड़ाकर प्रवेश करता है, वैसे ही रबीन्द्र सोनभद्र बाबू के डेरे में प्रवेश कर गया। सोनभद्र बाबू रबीन्द्र को पहचानते, उससे पहले ही रबीन्द्र बोल पड़ा-

"प्रणाम, श्रीमान्। मैं रबीन्द्र हूँ।"

कक्षा में भले ही शिक्षक और छात्र के बीच दूरी रहती हो, पर डेरे पर कुछ शिक्षकों का स्वभाव ऐसा होता है कि वे छात्र को अपने छोटे भाई जैसा समझते हैं। जैसे ही रबीन्द्र ने अभिवादन किया, सोनभद्र बाबू ने बगल की कुर्सी दिखाते हुए कहा-

"यहीं बैठो। किधर चले आए?"

रबीन्द्र बोला-

"श्रीमान्, आज आपने कक्षा में जो पढ़ाया, वह ठीक से समझ में नहीं आया। उसी को समझने के लिए..."

रबीन्द्र की बात सुनकर सोनभद्र बाबू की दृष्टि अपनी कमजोरी पर भी गई। बात यह थी कि पढ़ाना भी एक कला है। जिस शिक्षक में जैसी कला होती है, विद्यार्थी उसकी बात उसी रूप में समझते हैं। पर तुरन्त ही उनके मन में यह भी आया कि यदि शिक्षक ईमानदारी से पढ़ा रहा हो और विद्यार्थी ठीक से न सुन पाए या ठीक से न समझ पाए, तो इसमें शिक्षक का क्या दोष। फिर उसी क्षण मन में यह विचार भी उठा कि क्यों न रबीन्द्र से ही पूछ लिया जाए कि वह क्या समझा, कितना समझा, क्या नहीं समझा और कितना नहीं समझ पाया। जो नहीं समझा होगा, उसे समझा देंगे और जो समझ चुका होगा, उसे व्यर्थ दोहराकर क्यों समझाएँगे। मन मान गया। मन के मानते ही सोनभद्र बाबू बोले-

"क्या समझ सके और क्या समझ में नहीं आया?"

रबीन्द्र बोला-

"श्रीमान्, स्वभाव और प्रभाव क्या है और कैसे...?"

सोनभद्र बाबू बोले-

"स्वभाव का अर्थ है अपनी प्रकृति, यानी अपना नेचर। यह हर मनुष्य में होता है। दूसरे रूप में इसे अपना धर्म भी कह सकते हैं, जो जन्मजात संस्कार के रूप में चलता रहता है। और प्रभाव का अर्थ है

दूसरे से आया हुआ गुण। जो गुण किसी दूसरे के कहने से या उसे देखकर मनुष्य में आता है, वही प्रभाव है।"

सोनभद्र बाबू ने जिस सरल ढंग से कहा- रबीन्द्र उसी सरलता से पूरी तरह समझ गया। उसके मन में खुशी उमड़ आई। खुशी उमड़ते ही उसके चेहरे पर मुस्कान फैल गई। रबीन्द्र को मुस्कुराते देखकर सोनभद्र बाबू के मन ने मान लिया कि जो परेशानी उसे हो रही थी, वह मिट गई। इसी बीच रुक्मिणी, अर्थात सोनभद्र बाबू की बेटी, जो हाई स्कूल की नवमी कक्षा में पढ़ती थी, तश्तरी में दो कप चाय लेकर आ गई। चाय देखकर सोनभद्र बाबू बोले-

"रबीन्द्र, बातचीत होती रहेगी, पहले चाय पी लो।"

वैसे, रबीन्द्र चाय पीने में संकोच कर रहा था, पर सोनभद्र बाबू के मुँह से सुनकर उसने मन से संकोच हटाया और चाय पीने लगा।

चाय पीने के बाद सोनभद्र बाबू बोले-

"रबीन्द्र, कोई व्यक्ति किसी विषय को कैसे समझता है, यह उसकी मनःस्थिति पर भी निर्भर करता है।"

'मनःस्थिति' सुनकर रबीन्द्र बोला-

"श्रीमान्, जरा स्पष्ट करके...।"

रबीन्द्र की बात सुनकर सोनभद्र बाबू समझ गए कि वह मनःस्थिति को ठीक से नहीं समझ पा रहा है। समझाते हुए बोले-

"रबीन्द्र, मनःस्थिति का अर्थ है मन की स्थिति। मन की स्थिति दो प्रकार की होती है। एक सकारात्मक और दूसरी नकारात्मक। जिसकी मनःस्थिति सकारात्मक रहती है, वह किसी विषय या बात को सकारात्मक ढंग से समझता है। और जिसकी मनःस्थिति नकारात्मक रहती है, वह उसी बात को नकारात्मक ढंग से ग्रहण करता है। इसलिए हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि अपने को सकारात्मक स्थिति में बनाए

रखा जाए। इसी स्थिति पर मनुष्य का जीवन बहुत हद तक निर्भर करता है।"

सोनभद्र बाबू की बात सुनकर रबीन्द्र के मन की गाँठ जैसे खुल गई। गाँठ खुलते ही उसने लम्बी साँस छोड़ी। इससे सोनभद्र बाबू समझ गए कि रबीन्द्र के मन में जो शंका थी, वह मिट गई। वे बोले-

"रबीन्द्र, प्रभाव में काम करने वाला, यानी दूसरे से प्रभावित होकर चलने वाला मनुष्य जीवन में सफल भी हो सकता है और असफल भी। यह इस पर निर्भर करता है कि उस पर कैसा प्रभाव पड़ा है। पर अपने परिमार्जित स्वभाव के अनुसार काम करने वाला मनुष्य निश्चित रूप से स्थिर सफलता की ओर बढ़ता है। इसलिए हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि एकान्त में बैठकर अपने स्वभाव को अच्छे-से-अच्छा परिमार्जित करते रहो। अपने जीवन को संयमित बनाते चलो। दुनिया के ताम-झाम से अपने को बचाते हुए अपने वास्तविक जीवन, अर्थात मनुष्य के स्वभावगत जीवन, के अनुसार अपना जीवन बनाते चलो। इसी से जीवन सफल होगा।"

सोनभद्र बाबू की बात सुनकर रबीन्द्र बोला-

"श्रीमान्, रात भी बहुत हो गई है, अब चलता हूँ।" ❑

धर्म का मर्म कर्म

☰

मोहितपुर के ज्ञानचन बाबा को गाँव के लोग अनेक नामों से पुकारते थे। कोई उन्हें आत्माराम बाबा कहता, कोई बुधियार बाबा। कोई रूपचन बाबा कहता, कोई संन्यासी बाबा। कोई पण्डित बाबा कहता और कोई सीधे बाबा ही कह देता। सच पूछिए तो उनमें ऐसा कौन-सा गुण नहीं था कि दूसरे लोग एक-दो नामों से पुकारे जाते हैं और समाज उन्हें इतने नामों से पुकारता था?

ज्ञानचन बाबा तब तक बाबा नहीं बने थे; वे केवल ज्ञानचन थे। जब वे मिडिल स्कूल में पढ़ते थे, उनकी उम्र दस-ग्यारह वर्ष रही होगी। चैत का महीना था और जनकपुर में रामनवमी मेले का समय चल रहा था। मोहितपुर गाँव के अनेक लोगों ने मेला जाने का विचार किया। साल में दो बार जनकपुर में बड़ा मेला लगता है। पहला चैत मास की रामनवमी में और दूसरा अगहन मास की विवाह पंचमी में। मोहितपुर से पन्द्रह-बीस लोग, स्त्री-पुरुष मिलकर, जनकपुर के लिए चले। उन्हीं लोगों के साथ ज्ञानचन भी जनकपुर चल पड़ा।

मोहितपुर गाँव ऐसी जगह पर है, जहाँ से जनकपुर, कुशेश्वर स्थान और सिंहेश्वर स्थान, अर्थात नेपाल का जनकपुर, दरभंगा जिले का कुशेश्वर स्थान और मधेपुरा जिले का सिंहेश्वर स्थान, लगभग समान दूरी पर पड़ते हैं। आज के समय में सड़कें बन जाने से गाड़ी-सवारी की सुविधा हो गई है, पर जिस समय की चर्चा हो रही है, उस समय अच्छी

सड़कें नहीं थीं। इसलिए मोहितपुर के लोग पैदल ही जाते थे। कुशेश्वर स्थान और सिंहेश्वर स्थान का मेला फागुन मास की शिवरात्रि में तब भी लगता था और अब भी लगता है। वैसे सामान्य दिनों में भी लोग जाते ही हैं, पर मेला शिवरात्रि में ही होता है। हर मेले की अपनी-अपनी विशेषता होती है, चाहे वह जनकपुर का मेला हो या सिंहेश्वर और कुशेश्वर स्थान का। सिंहेश्वर स्थान का मेला माल-जाल, अर्थात पशु-धन के मेले के रूप में प्रसिद्ध है।

चैत मास का समय, रामनवमी का मेला और अपार भीड़। वैसे हर साल भीड़ होती ही है, पर उस बार भीड़ इतनी अधिक थी कि ज्ञानचन मेले में खो गया। पहले तो न ज्ञानचन को ही पता चला कि वह खो गया है और न मोहितपुर के दूसरे यात्रियों को समझ में आया कि ज्ञानचन उनसे बिछुड़ गया है।

एक बार, अर्थात मेले का एक चक्कर लगाकर जब सभी लोग खाने के लिए एक जगह जुटे, तब ज्ञानचन को न देखकर सब बेचैन होने लगे कि ज्ञानचन कहाँ है। तब तक वे लोग खाने-पीने की व्यवस्था ही कर रहे थे। ज्ञानचन को न देखकर खाना-पीना सब छोड़ वे लोग उसे ढूँढ़ने निकल पड़े। एक तो मेले की थकान थी, घूमते-घूमते सभी थक गए थे; दूसरे, साथी के खो जाने से सबकी चिन्ता बढ़ गई थी। मेला इतना बड़ा होता है कि एक बार घूमने में, यानी एक चक्कर लगाने में तीन-चार घंटे लग जाते हैं। चींटी के सरकने भर की जगह न हो, तो घूमने में असुविधा होती ही है। जब सबने ज्ञानचन को खोजने का विचार किया, तब आपस में यह भी सोचा कि जहाँ डेरा रखा है, वह अड्डा बना रहे और तीन-चार टोलियाँ बनाकर खोजा जाए, तो अधिक अच्छा होगा। पर तुरन्त ही फिर विचार आया कि जहाँ डेरा है, यानी जिस जगह पर अभी वे लोग हैं, वह क्या किसी की खतियानी जमीन है? जैसे ही यहाँ से उठेंगे, दूसरे यात्री आकर उस जगह पर कब्जा कर लेंगे। इसलिए अच्छा होगा कि सभी

साथ चलें। सबने वही किया और ज्ञानचन को खोजने के लिए साथ निकल पड़े। वैसे ज्ञानचन भी अपने को खोया हुआ नहीं समझ रहा था। उसे लग रहा था कि उसके गाँव-घर के लोग खो गए हैं, और वह भी उन्हीं को खोज रहा था। पर मेले का रूप इतना विकराल था कि वहाँ सब खोए हुए भी लगते थे और कोई खोया हुआ भी नहीं लगता था। बहुत खोजने के बाद भी ज्ञानचन नहीं मिला। अन्त में सभी हार-थककर यही सोचने लगे कि तीन दिन रहना है, हो सकता है अभी न मिला हो, बाद में मिल जाए।

तीन दिन मोहितपुर के सभी यात्री मेले में रहे, पर ज्ञानचन नहीं मिला। वैसे ज्ञानचन भी तीन दिन तक मेले में रहकर गाँव-घर के लोगों को खोजता रहा, पर उसे भी कोई नहीं मिला। उसके पास जो थोड़ी-बहुत पैसे-कौड़ियाँ थीं, वे तीन दिनों में समाप्त हो गईं।

मेला टूटने लगा। मेले में आए लोग घर की ओर लौटने लगे। जैसे-जैसे मेला कम होता गया, वैसे-वैसे मोहितपुर के यात्रियों और ज्ञानचन, दोनों की चिन्ता बढ़ती गई। ज्ञानचन को यह चिन्ता थी कि अकेले गाँव कैसे जाएगा। गाड़ी-सवारी की सुविधा नहीं थी और पैदल जाने का रास्ता उसने देखा नहीं था। उसी तरह गाँववालों को, अर्थात मोहितपुर के यात्रियों को, यह चिन्ता थी कि ज्ञानचन के माता-पिता क्या कहेंगे।

जनकपुर से उत्तर कल्याणपुर में एक स्थान था, जिसे लोग भिखाड़ी बाबा स्थान कहते थे। वहाँ के महन्त भिखाड़ी बाबा के नाम से जाने जाते थे। भिखाड़ी बाबा स्वयं और उनके चार-पाँच चेले-शिष्य रामनवमी का मेला देखने जनकपुर आए हुए थे। जब वे लोग भी मेला घूमकर वापस जाने लगे, तब अकेले रोते हुए ज्ञानचन को देखकर समझ गए कि यह बच्चा शायद अपने लोगों से बिछुड़ गया है। भिखाड़ी बाबा ने ज्ञानचन के चेहरे की बनावट, उसकी देह की सहज सुन्दरता और बोलने-चलने की चंचलता देखकर जान लिया कि यह बच्चा होनहार है।

वैसे, उनके मन में यह बात भी उठी कि मनुष्य का बच्चा ही तो मनुष्य बनेगा। उन्होंने ज्ञानचन से पूछा-

"बेटा, क्यों रो रहे हो?"

ज्ञानचन ने कहा-

"बाबा, मैं खो गया हूँ। गाँव के लोगों के साथ आया था। वे लोग चले गए, मैं अकेला रह गया हूँ।"

भिखाड़ी बाबा ने फिर पूछा-

"किस गाँव के रहने वाले हो?"

ज्ञानचन ने कहा-

"मोहितपुर का रहने वाला हूँ।"

मोहितपुर गाँव का नाम सुनकर भिखाड़ी बाबा याद करने लगे कि मोहितपुर कहाँ है, पर उन्हें याद नहीं आया। तब बोले- "हमारे साथ चलो। अभी स्थान पर रहना। जब कोई भरोसे का आदमी तुम्हारी ओर का मिलेगा, तब तुम्हें उसके साथ कर दूँगा और तुम गाँव चले जाना।"

भिखाड़ी बाबा की बात सुनकर ज्ञानचन चुप हो गया और उनके साथ चल पड़ा।

कल्याणपुर स्थान में मन्दिर तो नहीं था, पर पन्द्रह-बीस बीघे की खेती-बारी अवश्य थी। किसान परिवार की तरह वहाँ सब कुछ था। भिखाड़ी बाबा ने स्वयं विवाह नहीं किया था, इसलिए स्थान में सभी पुरुष ही पुरुष थे। खेती करने के सारे साधन भी वहाँ उपलब्ध थे। जैसे कोई किसान परिवार होता है, वैसा ही वह स्थान था। दो बीघे की गाछी-कलम, एक कट्ठा भर फुलवारी, एक बीघे का पोखर, तीन कुएँ आदि सब कुछ था। भिखाड़ी बाबा की अपनी नियमित दिनचर्या थी। स्थान में जितने साधु थे, सभी गृहस्थी जैसे कामों में लगे रहते थे। पाँच गायें और दो जोड़ा बैल भी थे। उनकी सेवा का जिम्मा एक व्यक्ति पर था। वह दिन

भर उन्हीं की सेवा करता था। गाय-बैलों को खिलाने-पिलाने से लेकर दुहने और सँभालने तक का भार उसी पर था। इसी तरह पाँच-छह लोगों पर खेती का भार था।

स्वयं भिखाड़ी बाबा स्थान की हर बात पर नजर रखते थे। दिन में दो बार, यानी दो बैठकों में, वे स्थान के सभी लोगों को एक जगह बैठाकर जीवन क्या है और अच्छा जीवन जीने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए, इसका दर्शन, यानी जीवन-ज्ञान, अपने प्रवचन के माध्यम से प्रतिदिन देते थे। स्थान में न जात-पात का महत्त्व था, न ऊँच-नीच का। जैसे मनुष्य की एक ही जाति मनुष्य-जाति है, वैसा ही व्यवहार वहाँ सबके साथ होता था।

शुरू में ज्ञानचन को वह स्थान अच्छा नहीं लगता था। स्थान से कुछ दूर हटकर चारों ओर पहाड़ दीवार की तरह खड़े दिखाई देते थे और उसी तरह चारों ओर पेड़-पौधों के वन-झाड़ भी फैले हुए थे। वन-झाड़ देखकर ज्ञानचन के मन में हमेशा डर बना रहता था कि कहीं बाघ-सिंह जैसे नरभक्षी जानवर न रहते हों। कब जीवित रहूँगा और कब मर जाऊँगा, इसका कोई ठिकाना नहीं, ऐसा भय भीतर बना रहता। समय की गति के साथ ज्ञानचन के विचार में परिवर्तन आता गया और कुछ ही दिनों के बाद मन का विश्वास इतना मजबूत हो गया कि जंगली जानवरों का डर मन से मिट गया।

जैसे स्थान के सभी लोग भिखाड़ी बाबा का प्रवचन सुनते थे, वैसे ही ज्ञानचन भी सुनने लगा। कुछ ही दिनों के बाद उसे मनुष्य-जीवन का बोध हुआ और जीवन की सार्थकता भी समझ में आने लगी। फलस्वरूप वह अपने घर-द्वार की तरह स्थान की सेवा-टहल में लग गया।

समय बीतता गया। भिखाड़ी बाबा भी चल बसे। तीस वर्ष बाद ज्ञानचन कल्याणपुर से अपने गाँव लौट आया। तीन भाइयों में ज्ञानचन ने तो विवाह नहीं किया था, पर बाकी दोनों भाइयों ने विवाह कर लिया

था और बाल-बच्चों के साथ उनका परिवार भी था।

जब ज्ञानचन गाँव आया, अर्थात अपने पूर्वजों के गाँव का नाम-ठिकाना याद रहने के कारण पूछते-पूछते गाँव पहुँच गया, तो गाँव के किसी आदमी ने उसे पहचाना नहीं। केवल नाम भर सबको मालूम था। उम्र बीत जाने से शरीर में भी परिवर्तन हो गया था और विचारों में भी।

ज्ञानचन की आत्मशक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि इतने दिनों के बाद भी वह गाँव और गाँव के समाज को अपने हृदय का अंश ही समझ रहा था। जब वह गाँव पहुँचा, तब जैसे उसके अपने मन में जनकपुर में खो जाने की घटना जीवित थी, वैसे ही परिवार और समाज भी उसके मन में जीवित थे। मोहितपुर के लोगों और ज्ञानचन के बीच जब बातचीत हुई, तब जैसे मोहितपुर के समाज ने उसे स्वीकार कर लिया, वैसे ही ज्ञानचन के मन ने भी उन्हें स्वीकार कर लिया।

तीन भाइयों में ज्ञानचन सबसे बड़ा था और दोनों भाई छोटे। दोनों भाइयों का विवाह हो चुका था। बाल-बच्चे भी थे। माता-पिता अब जीवित नहीं थे। गाँव की पिछली पीढ़ी भी लगभग समाप्त हो चुकी थी। केवल पाँच-सात आदमी ही बचे थे, जो चौथेपन में आ गए थे, अर्थात बुढ़ापे में पहुँच चुके थे।

ज्ञानचन का आत्मबोध, यानी आत्मज्ञान, इतना प्रबल हो गया था कि दुनिया के सातों अरब लोग जैसे उनके हृदय में समाए हुए थे। मनुष्यों की सेवा ज्ञानचन बाबा के मन में इस तरह समा गई थी कि वह प्रेम का अथाह समुद्र बन गई थी।

मोहितपुर गाँव के लोग अपनी-अपनी समझ से उन्हें अलग-अलग नामों से पुकारने लगे। कोई ज्ञानचन बाबा कहता, कोई आत्माराम बाबा। कोई विवेक बाबा कहता, तो कोई-कोई भगवान बाबा भी कह देता। ज्ञानचन बाबा ने अपना एकमात्र उद्देश्य यही बना लिया था कि मनुष्य

की जिस सेवा का शास्त्र-पुराण गान करते हैं, वही उनका धर्म है।

वे नवयुवकों से सदैव कहा करते थे-

"बेटा, धर्म कहीं खोया हुआ नहीं है और न किसी वस्तु से ढका हुआ है। वह कर्म में निहित है। जैसा कर्म, वैसा धर्म। चौरासी लाख जीव-जगत में केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जो कर्मयोनि का है। बाकी जितने जीव हैं, वे भोगयोनि के हैं। इसलिए धरती पर जितने मनुष्य हैं, वे एक ही गुण-धर्म के हैं। देश-देश की दूरी, भाषा-संस्कृति की दूरी, खान-पान की दूरी और अन्य अनेक दूरियाँ अवश्य हैं, जिनसे बीच में अलगाव बना हुआ है, पर मनुष्य का मूल धर्म कर्म ही है।" ❑

कोई धन से ठगा जाता है तो कोई धन को ठगता है

☰

सूखा पड़ा था। आधे से अधिक सावन बीत चुका था। कल नाग पंचमी है, पर अब तक एक भी झमाझम वर्षा नहीं हुई। एकाध बार पानी गिरा भी, तो बस मिट्टी छूकर रह गया। धान के बीज-बिचड़े सूख रहे थे। अब तक एक बित्ता जमीन में भी रोपनी नहीं हो पाई थी, जिससे किसानों के चेहरे का रंग उड़ गया था। कुछ वर्ष पहले तक किसान अगहनी धान किया करते थे, अर्थात वह धान जो अगहन, दिसम्बर, में तैयार होता है। पर कुछ वर्षों से अगली फसल, गेहूँ, को ध्यान में रखते हुए किसान कतिका धान की खेती करने लगे हैं। यह कृषि विभाग का नया अनुसंधान भी है। इससे धान की अच्छी उपज होती है और अगली फसल, गेहूँ और दलहन, भी समय पर होकर अच्छी उपज देती है। पर इस बार सूखा पड़ जाने से वैसा नहीं हो पाया। यहाँ पंजाब की तरह नहर और बोरिंग की समुचित व्यवस्था भी नहीं है कि वैसी खेती सम्भव हो सके।

वैसे, कई वर्षों के बाद इस बार रामपुर में आम की फसल अच्छी रही। इसी कारण अब तक, अर्थात आधा सावन बीत जाने के बाद भी, लोग ताजे आम खा रहे हैं। दूसरे वर्षों में ऐसा नहीं होता था। रामपुर गाँव आम की गाछी-कलमों से भरा हुआ है। जिस अनुपात में गाँव में गाछी-कलम हैं, उस हिसाब से आम नहीं फला था, फिर भी आधे-अधूरे फलने

पर भी रामपुर के लोगों के हिसाब से पर्याप्त से अधिक ही हो गया। पर आम को सुरक्षित रखने की व्यवस्था, यानी कोल्ड स्टोर, नहीं होने के कारण उसे बस उसी समय की बहुतायत समझिए। एक तो कोल्ड स्टोर नहीं है, दूसरे बिजली की स्थिति भी ऐसी है कि ठीक से रोशनी तक नहीं हो पाती, तो वहाँ कोल्ड स्टोर का रख-रखाव कैसे होगा।

एक तो सूखा पड़ने से गरमी बहुत अधिक बढ़ गई थी, ऊपर से बिजली की समुचित व्यवस्था नहीं। दिन के दो बजे थे। गरमी से मन औल-बौल होने लगा। पसीने से देह नहा गई थी। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। घर की छाया हो या पेड़-पौधों की छाया, दोनों जगह एक जैसी गरमी थी। हवा जैसे कहीं गायब हो गई थी। गरमी से लगने लगा कि अब जान नहीं बचेगी। एकाएक मन में आया कि ऐसा समय काटने के लिए गप-शप करने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं। पर गप-शप किससे की जाए? सबकी एक ही दशा है। अनायास मन में आया कि ऐसा न हो तो सुमित भाई के यहाँ चला जाए और उनसे बातचीत करते हुए समय काट लिया जाए। समय तो दो-अढ़ाई बजे का ही हो रहा है। सूर्य भी नीचे की ओर उतर ही रहा है। दो-अढ़ाई घंटे बाद समय में बदलाव आ ही जाएगा। यही सोचकर सिर पर गमछा रखे सुमित भाई के यहाँ चल पड़ा। सुमित भाई का घर मेरे घर से केवल दो बीघे की दूरी पर है। उसमें एक और लाभ था। बीच के रास्ते में तीन-चार जामुन के पेड़ हैं, इसलिए आधे से अधिक रास्ते में छाया ही पड़ती है।

सुमित भाई के यहाँ पहुँचते ही देखा कि वे चापाकल पर नहा रहे हैं। मैंने कहा- "भाई साहब, इतनी देर में क्यों नहा रहे हैं?"

देह और हाथ मलते हुए सुमित भाई बोले-

"किशोर, अभी तीसरी बार नहा रहा हूँ। पहली बार दूसरे दिनों की तरह ग्यारह बजे नहाया था। खाने-पीने के बाद इतनी गरमी लग गई कि दोबारा एक बजे भी नहा लिया।"

हम लोग बातचीत करते रहे और सुमित भाई नहाने की प्रक्रिया भी करते रहे। मैं चापाकल से थोड़ा हटकर खड़ा रहा। सुमित भाई ने गमछे से देह-हाथ पोंछकर धोती बदली। धोती को चापाकल के चबूतरे पर चार बार झटकारा, बाल्टी में धोकर पानी निचोड़ा, बाल्टी को चापाकल पर छोड़ दिया। फिर लोटे में पानी लेकर दरवाजे के किनारे फेंका, धोती को सुखाने के लिए पसार दिया और लोटा लेकर दरवाजे पर आ गए। हम दोनों चौकी पर बैठ गए। बैठते ही मैंने कहा-

"भाई, समय ऐसा हो गया है कि जान बचना कठिन लग रहा है।"

मेरे कहते ही सुमित भाई बोले-

"किशोर, अपने पूर्वजों ने कहा है, 'आदि आद्रा अन्त हस्त, जँ नहि बरिसे, रोबे गृहस्थ।' आधे से अधिक सावन बीत गया है। आद्रा नक्षत्र बीते हुए भी लगभग महीना हो गया। इसका मतलब है कि सूखा पड़ेगा।"

सुमित भाई के मुँह से 'सूखा' सुनकर मैंने भी कहा-

"लक्षण तो वैसे ही दिख रहे हैं।"

विचार को आगे बढ़ाते हुए सुमित भाई बोले-

"किशोर, जहाँ हम लोग रहते हैं, वह गंगा-ब्रह्मपुत्र का मैदान कहलाता है। यह उत्तर से दक्षिण की ओर ढलान की तरह फैला हुआ है। हम लोगों से पश्चिम की ओर गंगा नदी बहती है और पूरब में असम की ओर ब्रह्मपुत्र नदी। बीच का जो मैदानी भाग है, वही गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदान कहलाता है। अपनी मिथिला पूरी तरह इसी क्षेत्र में पड़ती है।"

हम दोनों, यानी मैं और सुमित भाई, बातचीत कर ही रहे थे कि मनोहर भी गमछे से मुँह पर हवा करता हुआ पास आ गया और बोला-

"सुमित काका, जान नहीं बचेगी!"

मनोहर धूप से होकर आया था, इसलिए पसीने से नहाया हुआ था। मनोहर को पसीने से नहाया देखकर सुमित भाई बोले-

“मनोहर, वैसे गाँव में बिजली आ गई है। सरकार के बही-खाते में खानापूरी भी हो गई है, पर इतना तो मन में रखना पड़ेगा कि अपने यहाँ केवल आज ही नहीं, भले हर साल नहीं, पर सूखा हमेशा से पड़ता आया है। सोचो, अपने पूर्वजों ने उसका सामना करते हुए सौ-सौ वर्ष की जिन्दगी कैसे बिताई। ताड़ का पंखा है। चौकी पर बैठकर दस बार झल लो। पसीना भी सूख जाएगा और गरमी से जो मन व्याकुल हो रहा है, वह भी कम हो जाएगा।”

सुमित भाई की बात मनोहर ने चुपचाप सुन ली, कुछ नहीं बोला। चौकी पर रखा पंखा वह इस तरह झलने लगा कि हम तीनों को, मनोहर को, सुमित भाई को और मुझे, ठीक से तो नहीं, पर थोड़ी-बहुत हवा लगने लगी। पंखे की हवा लगते ही मन को थोड़ा चैन मिला। मैंने कहा-

“भाई, पूर्वजों के समय में अगहनी धान होता था। वह धान माघ-फागुन से लेकर सावन-भादो तक लगाया जाता था। यानी नीची जमीन में खेरही के साथ धान, बीज के रूप में, बोया जाता था। बैसाख-जेठ में खेरही समाप्त हो जाती थी और धान रह जाता था, जो अगहन में तैयार होता था। उसी तरह सावन-भादो तक धान के पौधे, यानी धान के बिचड़े, भी रोपे जाते थे। वह भी अगहन में ही तैयार होता था। पर आज का धान वैसा नहीं है। पहले का धान मौसम के हिसाब से होता था और आज का धान समय के हिसाब से होता है, यानी दिनों की गिनती के हिसाब से। खेत में बीज गिराने के दिन से लेकर धान पकने और काटने तक साठ दिन से डेढ़ सौ दिन के बीच का समय होता है। यहाँ तो सत्तर-अस्सी दिन बीत चुके हैं और खेत में बिचड़े जल रहे हैं। अब यदि वर्षा भी होगी, तो बिचड़े को रोपने योग्य बनने में पन्द्रह-बीस दिन और लगेंगे। तब जाकर रोपा जाएगा। अब कहिए, जिस धान का समय रोपने से पहले ही बीत गया, वह धान कैसा होगा?”

मेरी बात सुमित भाई के मन में ठीक बैठी, इसलिए वे कुछ नहीं

बोले। मनोहर बोला- “काका, जैसे गाँव-समाज के लोग खेती छोड़कर गाँव से भागकर परदेश जा रहे हैं, शायद अपना भी वही होगा। अपनी तो हमेशा की आदत रही है कि कभी धन जमा नहीं किया। रोज कमाना-खटना और रोज खाना, गृहस्थ जीवन में ऐसा सम्भव नहीं। पूर्वज लोग कह गए हैं कि जरूरत से अधिक धन रखना चोर का काम है, पर साल के हिसाब में तो धन सँभालना ही पड़ता है। मतलब यह कि साल में जितनी आमदनी होती है, उसी से साल भर गुजर करते हैं। इस बार जो स्थिति बनती जा रही है, वह ऐसी है कि आगे कैसे जीएँगे!”

मनोहर की बात सुनकर सुमित भाई ने क्या समझा, यह तो वही जानें, पर बोले यही- “मनोहर, धन धन है, जीवन नहीं। पिछले पुरखों की ओर दृष्टि दोगे, तब समझ में आएगा कि किसी ने धन को ठगा और किसी को धन ने ठग लिया।”

सुमित भाई की बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ कि वे क्या कह रहे हैं। मैंने पूछा- “भाई, आपने क्या कहा- यह जरा स्पष्ट कीजिए।”

मुस्कुराते हुए सुमित भाई बोले- “किशोर, अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करना अपने भाग्य का निर्माण करना है। दायित्व के प्रति जागरूक होना अपने निर्माण की दिशा पकड़ना है। अक्सर लोग भाग्य की व्याख्या करने में लगे रहते हैं, पर भाग्य बनता कैसे है, यह नहीं कहते। इसलिए तुम ही कहो, वह बनेगा कैसे? पुण्य का फल सब चाहते हैं, पर वैसा आचरण नहीं करते जिससे पुण्य की प्राप्ति हो। पाप का फल कोई नहीं चाहता, फिर भी लोग अपना आचरण ऐसा बना लेते हैं जिससे पाप का फल मिलना निश्चित हो जाता है। यही विरोधाभास मनुष्य के जीवन में आ गया है। तब तुम ही कहो, केवल चाहने से फल थोड़े ही मिलता है।”

अपनी ओर से सुमित भाई बात कह गए, पर मेरा मन उसी विचार

पर अटका था कि कोई धन को कैसे ठग लेता है और धन मनुष्य को कैसे ठग लेता है। इसलिए मैंने कहा-

"भाई, पिछली बात छूट गई। उसे जरा स्पष्ट कर दीजिए।"

मुस्कुराते हुए सुमित भाई बोले-

"किशोर, मनुष्य का जीवन और धन, दोनों अलग-अलग चीजें हैं। धन जीवन का साधन है, जीवन नहीं। जो जीवन के लिए धन कमाता है और जीवन के हित में उसका उपयोग करता है, वही धन को ठगता है। और जो जीवन को जीवन न समझकर धन के पीछे अपना जीवन गँवा देता है, वही धन के हाथों ठगा जाता है।"

सुमित भाई की बात आधी-अधूरी समझ में आई और आधी-अधूरी नहीं भी आई। इसलिए मेरे मुँह से कुछ निकल ही नहीं रहा था। यह भाव सुमित भाई समझ गए। वे बोले-

"किशोर, हम लोग सूखे की चपेट में पड़ गए हैं, इसलिए मन इतना चिन्तित हो गया है कि कैसे जीएँगे। यह तो जानते ही हो कि वर्षा न होने पर सूखा पड़ेगा। पर अपने ही देश में पंजाब राज्य भी है, जहाँ के किसान वर्षा के भरोसे नहीं रहते, फिर भी अन्न उपजाने में देश के सभी राज्यों से आगे हैं।"

यह तो मैं भी जानता था, इसलिए बोला-

"हाँ, यह तो है ही।"

❑❑❑
❑❑
❑

Notes